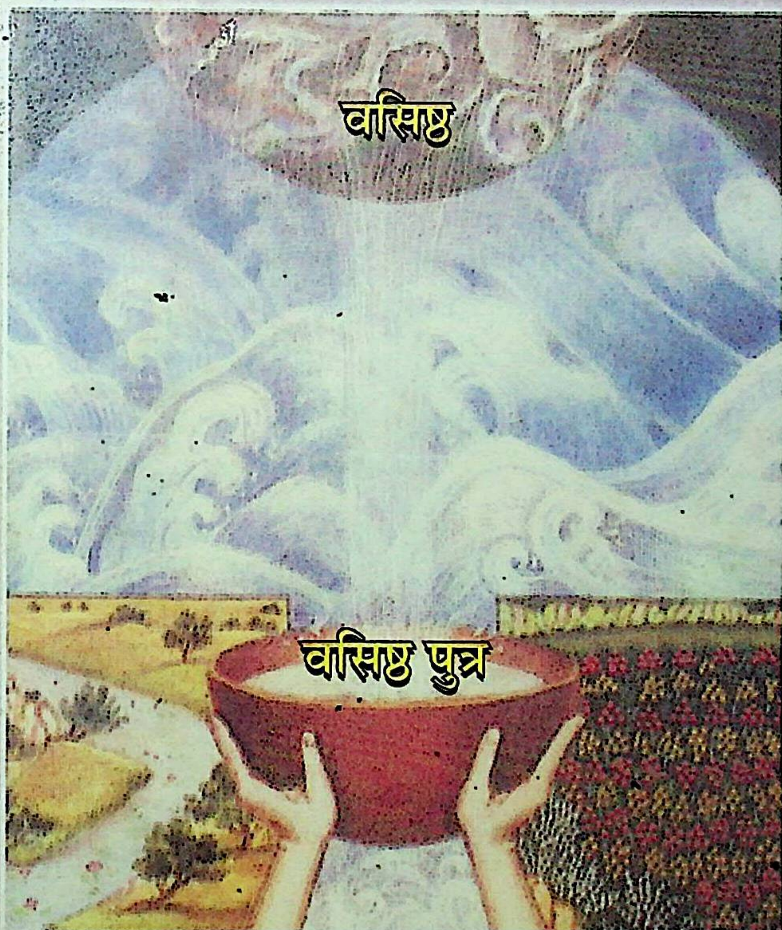
वेद बिन्दु :-

ओ३म्

अन्तरिक्ष वसिष्ठ ब्रह्म आदि विज्ञान



स्वर्णा देवी चतुर्वेदा

आचार्या सूर्या देवी

सन् १९५८ में उत्तरप्रदेश सोरों एटा में जन्म प्राप्त, आपने पूजनीया गुरुवर्या सुश्री डॉ. प्रज्ञा देवी जी तथा पू. सुश्री आचार्या डॉ. मेधा देवी जी से वाराणसी में आकर व्याकरण-दर्शन-निरूक्तादि का गहन अध्ययन करके व्याकरणाचार्य सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण किया । वैदिक गवेषणा में आप सर्वदा तल्लीन रहती हैं । आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर सम्पूर्ण जीवन 'पाणिनि कन्या महाविद्यालय' वाराणसी में ही पठन-पाठन करते हुए अर्पित कर दिया है ।

ओ३म्

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति

गूढ गवेषणा-

अन्तरिक्ष वसिष्ठ ब्रह्म आदि विज्ञान

•

आचार्या सूर्या देवी चतुर्वेदा

•

पाणिनि कन्या महाविद्यालय

वाराणसी

प्रकाशक :
श्री जिज्ञासु स्मारक पाणिनि कन्या महाविद्यालय
तुलसीपुर, वाराणसी-१० (उ.प्र.)
दूरभाषांक :- ०५४२ - ३६०३४०

●

प्रथम वार - १०००
६ दिस. सन् २००२
वि.सं. २०५९

मुद्रण में उदार सहयोगिनी-

●

पूज्या माता श्रीमती ईश्वरी आर्या जी
'शास्त्री भवन' पटना (बिहार)

मूल्य - ६०/- रु.

●

मुद्रक :-
विष्णु प्रेस
कतुआपुरा, वाराणसी

आशीर्वचांसि

पाणिनि कन्या महाविद्यालय के ३१ वें वार्षिकोत्सव पर इस सुन्दर गवेषणा को प्रस्तुत करते हुए हमारा हृदय अत्यन्त प्रमुदित है। परम पूजनीय पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ पू० गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी के चरणों में आर्ष विचार की जो दृष्टि प्राप्त हुई, पूजनीया अद्वितीय विदुषीमणि स्व० डा० प्रज्ञा देवी जी बहिन जी ने बड़ी तपस्या से उसे आगे कन्याओं में ओत-प्रोत किया। आज उसका ही परिणाम है कि दयानन्द के खूँटे से कोई इन्हें हिला नहीं सकता। मेरी प्रियवत्सा आयुष्मती सूर्या जी ने अहर्निश अपनी कृश काया को भी ओझल करके जिस प्रकार सतत वेदमन्थन किया है और एक से एक वेदरहस्य समक्ष प्रस्तुत किये हैं उसे देख कर लगता है ऋषि का मिशन कभी अधूरा न रहेगा। वेदसूर्य प्रकाशित होकर रहेगा, प्रत्येक सत्यग्राही जन उसका अनुमोदन करेंगे।

मेरी पूजनीया बहिन जी का आत्मा इस ज्ञान ज्योति को प्रदीप्त देखते हुए कितना प्रसन्न होता होगा इसे मैं अनुभव कर सकती हूँ, क्योंकि उनका रोम-रोम सिद्धान्त विवेचन के लिये ही जुटा रहता था।

प्रिय सूर्या जी का निर्मल हृदय वेदमाता के पूजन में अर्पित है, उन्हें 'देवहितं यदायुः' का आशीर्वाद लगे, मैं उस जगन्नियन्ता से यही प्रार्थना करती हूँ।

जयन्ति ते सदा सन्तः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति तेषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

६ दिसम्बर-२००२
मार्गशीर्ष शु० द्वितीया
वि० सं० २०५९

मंगलाभिलाषिणी-
मेधा देवी प्राचार्या
पाणिनि कन्या महाविद्यालय
वाराणसी

ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

आत्मवेदनम्

परमपिता परमात्मा का ज्ञान अनन्त है, गुह्य है, अतीन्द्रिय[1] है उस ज्ञान के तीन पाद सदा छिपे[2] हुए हैं, उस छिपे हुए ज्ञान को पहचानना मनुष्य के लिये बहुत सुकर नहीं है। उस अतीन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के द्वारा जान पाना अत्यन्त कठिन है। ऐसे ज्ञान के आधार पर परमात्मा द्वारा निर्मित पदार्थ भी अतीन्द्रिय हैं, अज्ञात हैं। वे विशिष्ट पदार्थ तीनों लोकों में हैं, यानी अन्तरिक्ष व द्यौलोक में जो पदार्थ हैं वे पृथिवी पर भी हैं, अन्तर बस इतना है कि पृथिवी के पदार्थ जड़ चेतन उभयविध हैं, अन्तरिक्ष और द्यौलोक के पदार्थ मात्र जड़ हैं। इन पदार्थों की संज्ञायें गुण, कर्म, स्वभावानुसार परमात्मा ने की हैं। पृथिवी के पदार्थों को हम परम्परा से जानते समझते आ रहे हैं, अतः वे हमारे लिए कठिन नहीं होते। लेकिन जो द्यौलोक और अन्तरिक्ष में पदार्थ हैं वे हमारे ज्ञान की पहुँच से परे हैं, जब उनको जानने की चेष्टा करते हैं तो मानक रूप में पृथिवी के पदार्थों या व्यक्ति विशेषों को सामने रख करके करते हैं, जिससे होता यह है कि हम उन पदार्थों की यथार्थता तक पहुँच ही नहीं पाते।

उन पदार्थों की गवेषणा करते हुए प्रायः हम ऐसे निचोड़ पर पहुँचते हैं जो न तो बुद्धिगम्य होता है, न तर्कगम्य और उन पदार्थों की यथार्थता एक इतिहास की कल्पना मात्र में समाहित हो जाती है। उन अन्तरिक्ष एवं द्यौलोक स्थित पदार्थों में **वयांसि, इरपाद, सरीसृप, सुरा, अयोदंष्ट्र, वसिष्ठ, वसिष्ठपुत्र, इन्द्र, मरुत्** आदि पदार्थ हैं जो पृथिवीस्थ पदार्थों या

---

१. न त्रिभिरपौरुषेयत्वात् वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात्। सां०द० ५। १। ४१ ॥

२. पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। यजु० ३१।३॥

व्यक्ति विशेषों के सदृश प्रतीत होते हैं पर इनका वास्तविक तथ्य उनसे भिन्न ही होता है। आधुनिक विज्ञान की परिभाषा से भी प्रायः ये अज्ञेय ही हैं।

ये गूढार्थ वाले पदार्थ मुझ अल्पमति के लिए तो अत्यन्त ही अगम्य हैं, तथापि वेदादि शास्त्रों के आधार पर अत्यन्त गहनता और यथार्थता के साथ परमात्मा की कृपा, महर्षि दयानन्द द्वारा दी गयी वेदार्थ की दृष्टि से इन पदार्थों को प्रतिपादित करने का यथामति लघु प्रयत्न किया है, जिसे विद्वत्प्रवर अवश्य ही अनुमोदित करेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

मुझ अनगढ़ ग्राम्य कन्या को वेदार्थ तक पहुँचाने में मेरे पूज्य माता-पिता (**श्री स्व० लाखन सिंह जी आर्य प्रधान एवं श्रीमती त्रिवेणी देवी जी**) एवं प्रातः स्मरणीया वन्दनीया पूजनीया मेरी आचार्याद्वय (**पू०डॉ० प्रज्ञा देवी जी, पू० प्राचार्या डॉ० मेधा देवी जी**) जी का सम्पूर्ण प्रयत्न है। मनुष्य के निर्माण में माता-पिता एवं आचार्य का[1] हाथ होता है, उन तीनों में भी आचार्य का कार्य प्रमुख है। आचार्य अपने ज्ञान गर्भ में अपने अन्तेवासी को अविद्यादि मलिनताओं से मुक्त कर उसे किस प्रकार का बनाकर समाज के समक्ष उपस्थित करता है, इसे अथर्ववेद में बताया गया है-

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यः ।

अथर्व० ११।५।१५।।

अर्थात् आचार्य अन्तेवासी को मन्थन-विलोडन कर घृत बना देता है, अज्ञान से हटाकर दीप्त कर देता है। इन्हीं भावों के साथ पू० आचार्यगणों ने मेरा भी निर्माण किया।

पुस्तिका में ग्रथित सामग्री आचार्याद्वय के श्रम-बिन्दु हैं। दो शरीर एक प्राण के आदर्श पर चलने वाली मेरी प्राणरूपा एवं मेरे जीवन की सर्वस्व **पू० प्राचार्या मेधा देवी जी** के उत्साहित करने पर ही मैंने अपने इन विचारों को मूर्त्तरूप दिया है। आपने जब भी कहा - "**सूर्या! अमुक विषय**

---

१. मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद। शत० ब्रा० १४।६।१०।२॥
छान्दो० उ० ६।१४।२॥

पर लिखना है," मैंने मात्र "अच्छी बात है" इन शब्दों के साथ आपके कथन को अङ्गीकार कर जिन पदार्थों को मैंने जाना भी न था उनकी यथार्थता जानने में जो भी प्रयत्न कर सकी, उसमें प्रभु की कृपा और आपका आशीर्वाद ही प्रतिफलित हुआ है।

मेरी सदा अभिकाङ्क्षा रही है, और है, कि मेरे लेखन में नई गवेषणा, नई ऊहा, नये प्रमाण होने चाहियें, जो सब कहते, सुनते, लिखते हैं, वह न हो, तदनुरूप लेखन में नूतन प्रमाण, नूतन ऊहा एवं गवेषणा को देख आप प्रसन्न होती हैं, आपकी उस प्रसन्नता ने ही मुझे यहाँ तक पहुँचाया है, इसकी मैं सदा ऋणी हूँ।

मेरे द्वारा लिखित विचार वेदादि शास्त्रों की कसौटी पर कसे हुऐ हैं या नहीं, इसकी परख आप सर्वदा करती रही हैं, यह मेरा अत्यन्त सौभाग्य है। पू० आचार्या जी अत्यन्त ही प्रखर, सरल एवं विनम्रता की प्रतिमूर्ति हैं आवश्यकता पड़ने पर अपने आवश्यक कार्यों को पीछे कर प्रतिलिपि का कार्य भी बड़ी सहजता से कर मुझे उत्साहित किया है। मैं अपनी इन महान् पू० प्राचार्या जी को क्या अर्पित करूँ, सब कुछ तो आपका ही है, और आगे भी रहेगा। किन शब्दों को ग्रथित करूँ शब्द भी अपूर्ण और न्यून ही रहेंगे। मैं तो सर्वदा यही कहती हूँ, मैं जो कुछ भी लिखती हूँ, वह सब आपके परोक्ष-अपरोक्ष आशीर्वाद और प्रेरणा का ही परिणाम है। यावज्जीवन आपके आशीर्वाद की छाया बनी रहे, यही देवाधिदेव से प्रार्थना है।

मेरे लेखन का कार्य पाणिनि कन्या महाविद्यालय की सुयोग्य दक्षिण भारतीया छात्रा प्रिय **ब्र० मैत्रेयी** ने अत्यन्त श्रद्धा, विनम्रता से ओत-प्रोत होकर सम्पादित किया है, तदर्थ उसके प्रति मेरा हार्दिक साधुवाद है, प्रभु करे यह ब्रह्मचारिणी स्वस्थ, प्रसन्न, दीर्घायु एवं विदुषी, ईश्वरभक्त बने तथा दयानन्द के कार्यों में लगी रहे।

इस अवसर पर **ब्र० दीपमाला, ब्र० हेमवती, ब्र० चेतना विभूति** एवं **श्रुतिकीर्त्ति** इन ब्रह्मचारिणियों ने मुद्रणपत्रादि देखने में उत्सवीय व्यस्तताओं के रहते हुए भी बड़ी निष्ठा एवं तत्परता से सहयोग किया है, ये

सभी साधुवाद की पात्र हैं। परमात्मा से प्रार्थना है कि आप सभी वेदवेदाङ्गों के पठन-पाठन में लगी रहें तथा ईशभक्त बनें।

इस क्रम में अपने नेचरोपैथी के चिकित्सक और शिक्षक **डॉ० श्रद्धेय विट्ठलदास मोदी** आरोग्य मन्दिर गोरखपुर तथा **डॉ० रहमान गोरखपुर** और वाराणसीस्थ **श्रद्धेय वैद्यराज पं० राजेन्द्र मिश्र जी** को स्मरण किये बिना अपने कार्य को अपूर्ण ही समझूंगी, क्योंकि यदि इन आत्मीय जनों ने मुझे जीवन्त न बनाया होता तो आज यह कार्य स्वप्न मात्र होता।

आप्तवाचिका-

सूर्या देवी चतुर्वेदा

विद्यालयीय ३१ वें वार्षिकोत्सव पर

६, ७, ८ दिसम्बर-२००२

मार्गशीर्ष शु० द्वितीया-तृतीया-चतुर्थी

वि०सं० २०५९

पाणिनि कन्या महाविद्यालय

वाराणसी-१० (उ०प्र०)

ओ३म्

यथातथ्यम्

		पृष्ठ
१.	प्रजापति की तीन प्रजायें — अन्तरिक्ष निर्माण का विज्ञान	१-११
२.	नील गगन कितना मनभावन	१२-२३
३.	वेदों में विज्ञान, एक चिन्तन + विद्युत्, चुम्बकीय तरंगों पर	२४-३२
४.	सोमतुल्य सुरा एवं भ्रान्तदृष्टि	३३-४३
५.	वसिष्ठ, वसिष्ठ पुत्र का आधिदैविक स्वरूप	४४-५२
६.	पहचानें विश्वकर्मा को	५३-६१
७.	वेदों का वनस्पति विभाग	६२-७३
८.	वेद ईश्वरीय ज्ञान क्यों ?	७४-८०
९.	ब्राह्मण 'वेद' नहीं व्याख्यान ग्रन्थ हैं	८१-८९
१०.	वेदों में सरस्वती कौन ?	९०-९३
११.	वेद और उपनिषद् की दृष्टि में ब्रह्म और जीव	९४-१००
१२.	वेदान्त और दयानन्द	१०१-१०७
१३.	ईश्वर सर्वकर्त्ता है	१०८-११०
१४.	कर ले भीतर की पहचान	१११-११४
१५.	वेदाङ्गों में निरुक्त की भूमिका	११५-१२०
१६.	ईशान कोण का यज्ञीय कलश	१२१-२५
१७.	प्राचीन याज्ञिकों का अदृष्ट और देवतातत्त्व	१२६-१४०
१८.	यज्ञ आजीविका का साधन नहीं	१४१-१४४
१९.	युवा वर्ग समाज के लिए समस्या क्यों बना ?	१४५-१५३
२०.	मनुष्य की गौणिक संज्ञा आर्य	१५४-१६२

प्रजापति की तीन प्रजायें-

अन्तरिक्ष निर्माण का विज्ञान

ऋग्वेद में अनेकों ऐसे सूक्त हैं जिनमें सृष्टि निर्माण के आदिभूत मूल तत्वों का निरूपण किया गया है तथा इनके अतिरिक्त बहुत से ऐसे मन्त्र हैं जिनमें जगत् रचना के गम्भीर रहस्यों को खोला गया है। तादृश मन्त्रों में **ऋग्वेद के ८वें मण्डल के १०१वें सूक्त का एक १४वाँ मन्त्र भी है** जिसमें प्रजापति परमात्मा द्वारा उत्पन्न की गई तीन प्रजाओं का संकेत है वे तीन प्रजायें कौन से पदार्थ हैं, यह जिज्ञास्य प्रश्न है, मन्त्र है—

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे।

बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश।।

ऋ० ८।१०१।१४।।

ऋग्वेद के इस मन्त्र के गूढ रहस्य का व्याख्यान माध्यन्दिन-शतपथ, काण्व शतपथ तथा ऐतरेय आरण्यक में किया गया है, जो ध्यातव्य है—

प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्र एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानीमानि **वयाꣳसि,** पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्माद्द्विपादो वयाꣳसि।। १ ।।

स ऐक्षत प्रजापतिः। यथान्वेव पुरैकोऽभूवमेवमुन्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति स द्वितीयाः ससृजे ता अस्य परैव बभूवुस्तदिदं **क्षुद्रꣳ सरीसृपं** यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृजऽइत्याहुस्ता अस्य परैव बभूवुस्तऽ**इमे सर्पा** एता ह न्वेव द्वयीर्याज्ञवल्क्य उवाच त्रयीरु तु पुनर्ऋचा।। २ ।।

सोऽर्चंछ्राम्यन्प्रजापतिरीक्षांचक्रे। कथं नु मे प्रजाः सृष्टाः पराभवन्तीति स हैतदेव ददर्शा**नशनतया** वै मे प्रजाः पराभवन्तीति स आत्मन एवाग्रे **स्तनयोः पय** आप्याययां चक्रे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्बभूवुस्ता इमा अपराभूताः।। ३ ।।

तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तं। प्रजा ह तिस्रोऽअत्यायमीयुरिति तद्याः पराभूतास्ता एवैतदभ्यनूक्तं न्यन्या अर्कमभितो विविश्रऽइत्यग्निर्वाऽअर्कस्तद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता अग्निमभितो निविष्टास्ता एवैतदभ्यनूक्तम्।। ४ ।।

महद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरिति। प्रजापतिमेवैतदभ्यनूक्तं पवमानो हरित आविवेशेति दिशो वै हरितस्ता अयं वायुः पवमान आविष्टस्ता एवैषऽर्गभ्यनूक्ता ता इमाः प्रजास्तथैव प्रजायन्ते यथैव प्रजापतिः प्रजा असृजत ॥ ५ ॥ शत० ब्रा० २।५।१।१-५

महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ के इस स्थल में सर्गोत्पत्ति के निर्माणकाल का विश्लेषण तीन प्रकार से प्रस्तुत किया है। शतपथ के इस स्थल का आक्षरिक अर्थ इस प्रकार है—

१. प्रजापति सृष्टि से पूर्व अकेला ही था। वह सृष्टि के उत्पत्ति कारणों का विचार करते हुए शान्त=खिन्न हो गया। पुनः तप किया, तप द्वारा प्रजा का सृजन किया, वे सृष्ट हुईं प्रजायें पराभव को प्राप्त हुईं। वे **वयांसि** थीं। पुरुष प्रजापति के अधिक सन्निकट है वह दो पैरों वाला होता है परिणामतः वयांसि भी पुरुष साधर्म्य से दो पैर वाले हुए।

२. प्रजापति ने सोचा मैं सृष्टि से पूर्व तथा सृष्टि के पश्चात् भी अकेला हूँ इस प्रकार विचार कर प्रजापति ने द्वितीय सृष्टि का सृजन किया। यह जो द्वितीय सृष्टि की, वे सर्पों से भिन्न क्षुद्र **सरीसृप** इत्यादि थे। पुनः तीसरी प्रकार की प्रजायें उत्पन्न कीं, वे **सर्प** थीं। वे दोनों प्रजायें पराभूत हो गईं। इन दोनों प्रकार के निर्माणों में मुझ याज्ञवल्क्य का दो प्रकार की सृष्टि निर्माण का कथन है, परन्तु वेद में तीन प्रकार की सृष्टि का प्रतिपादन है।

३. "प्रजा के न रहने का कारण प्रजापति ने इस प्रकार सोचा कि मेरी बनाई हुई प्रजायें अनशन के कारण पराभव को प्राप्त हो जाती हैं अतः उसने अपने शरीर के स्तनों को पयः से पूरित कर दिया, तदनन्तर प्रजापति द्वारा उत्पन्न की हुई प्रजायें, स्तनों को प्राप्त कर सम्यक् उत्पन्न हुईं, पूर्वोत्पन्न प्रजा के समान पराभव को प्राप्त नहीं हुईं"। अतः वेद में कहा—**प्रजा ह तिस्रो...** ऋ०८।१०१।१४। जो तीन बार प्रजा उत्पन्न हुई थी, वह अन्न के अभाव में पराभव को प्राप्त हो गई, जो दूसरी प्रजा = पयोरूप अशन को प्राप्त हुई वह अग्नि के चारों ओर बस गई और महान् भुवनों के अन्दर बसी, यह प्रजापति के लिए कहा है, और पवित्र करने वाला वायु हरित = दिशाओं में भर गया। प्रजापति ने इन प्रजाओं को जिस प्रकार उत्पन्न किया, वैसे ही उत्पन्न होती हैं।

शतपथ के इस स्थल पर सायणाचार्य की व्याख्या मक्षिका-स्थाने-मक्षिका मात्र है किसी गूढ रहस्य का प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया। इस ऋङ्मन्त्र की व्याख्या ऐतरेय आरण्यक में इस प्रकार की गई है—

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुरिति या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रो अत्यायमायंस्तानीमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः, इति।

न्यन्या अर्कमभितो विविश्र इति ता इमाः प्रजा अर्कमभितो निविष्टा इममेवाग्निम्, इति।

बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरित्यद उ एव बृहद्भुवनेष्वन्तरसावादित्यः इति। पवमानो हरित आ विवेशेति वायुरेव पवमानो दिशो हरित आविष्टः, इति।।

ऐत० आ० २।१।१ ।।

ऐतरेय आरण्यक के इस प्रकरण की सायण ने जिस प्रकार की व्याख्या की है वह जनसाधारण को सन्देहग्रस्त अवश्य करती है जो समग्रतः तद्ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है। सायण लिखते हैं—**ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार विभागों वाली प्रजा** में तीन विभागों में रहने वाली प्रजा गुरुशास्त्रोपदेश से रहित होने से वैदिक मार्ग पर श्रद्धारहित होती हुई यथोक्त मार्ग से अतिक्रमण कर गई, चतुर्थ भाग में अवस्थित प्रजाओं में से कोई **अर्कम् = पूजनीय अग्नि** की उपासना में प्रवृत्त हो गई, कोई सारे जगत् के प्रकाशक आदित्यमण्डल को चारों ओर से निविष्ट हो गई और कुछ प्रजायें जो जगत् की शुद्धि के लिए सर्वत्र सञ्चरण करता हुआ **वायु चारों दिशाओं** में प्रविष्ट है उसमें स्थित हो गईं अर्थात् उन श्रद्धा-रहित प्रजाओं के शरीर अपने दोष फल के भोग के लिए **वयांसि = काक,** गृध्र आदि पक्षी संघ को प्रजाओं का एक भाग प्राप्त हुआ। **वङ्गाः** = वन वृक्ष, **अवगधाः** = मनुष्यादि की रक्षा करने वाले या मनुष्यों के द्वारा चाहे जाने वाले **व्रीहि, यव आदि औषधि, वनस्पति रूप** संघ को प्रजाओं का यह दूसरा भाग प्राप्त हुआ। **इरपादाः** = सर्प आदि संघ को प्राप्त प्रजाओं का यह तीसरा भाग है। वैदिक कर्म का अतिक्रमण करने से तीन प्रजायें पक्षी आदि नरक जन्मों को प्राप्त करती हैं, चौथे भाग वाली श्रद्धा युक्त प्रजायें उत्तम लोक की प्राप्ति के लिए अग्नि, वायु आदि देवताओं की उपासना करती हैं।

सायणाचार्य ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन प्रजाओं का नाम लेकर ऐतरेय आरण्यक के इस स्थल में **'वयांसि वङ्गावगधाः'** तथा **'इरपाद'** शब्दों को देखकर बहुव्रीहि समास की शैली में सर्वसाधारण को प्रकम्पित करने का गपोड़ा तो

हाँक दिया, पर सुस्पष्ट नहीं किया कि इन चारों में कौन-सी वे तीन विभाग में रहने वाली प्रजायें हैं, जो पक्षी आदि नरक योनियों को प्राप्त होती हैं ? और कौन-सी वे चतुर्थ भाग में रहने वाली प्रजायें हैं, जो **अर्क** = अग्नि, **बृहद्** = आदित्य एवं **पवमान** = वायु को प्राप्त होती हैं। **वस्तुतः शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक में सूक्ष्मदर्शी महर्षियों ने सृष्टि के आदि निर्माणकाल में उत्पद्यमान पदार्थों का निदर्शन कराया है जो बड़ा गहन गम्भीर विषय है।**

शतपथ तथा ऐतरेय आरण्यक के **'वयांसि, सरीसृप, सर्प, वङ्गावगध एवं इरपाद'** शब्द अत्यधिक विवेचनीय हैं, अन्वेष्टव्य हैं, विशिष्ट मनन की अपेक्षा रखते हैं। **ये सभी पद अन्तरिक्ष लोक निर्माण के उस काल का निर्देश कर रहे हैं जिस समय अन्तरिक्ष बना नहीं था, बनना शेष था।**

प्रलयकाल के पश्चात् परमपिता अपनी ईक्षण शक्ति के द्वारा सृष्टि का सृजन कर रहा था उसके सर्वज्ञतारूपी तप[१] से **धूम, अग्नि, ज्योति, मरीचि, उदारा** एवं **अभ्रि** क्रमशः उत्पन्न हुए ततः **सलिलरूपी समुद्र बना**[२]। अनन्तर सलिल से पृथिवी लोक का निर्माण हुआ। पृथिवी लोक के पश्चात् परमात्मा ने अग्नि और पृथिवी के बीच संयोग उत्पन्न कर एक महद्अण्ड उत्पन्न किया जिससे प्रथम **वायु,** द्वितीय **वयांसि** एवं तृतीय **मरीचि आदि नामधारी मरुतों** का सृजन किया। इसके अनन्तर अन्तरिक्ष लोक अस्तित्व में आ गया[३], अन्तरिक्ष बना। अन्तरिक्ष निर्माण के **'वयांसि'** आदि **ये तीन सृजन तन्तु ही मन्त्रोक्त प्रजायें हैं**[४] **जो अन्तरिक्ष तथा अन्य लोकों के विस्तारक हैं,** मूल कारण हैं। अन्तरिक्षादि लोकों के निर्माण की इस विद्या का ही शतपथ और ऐतरेय आरण्यक में उल्लेख है।

---

१. यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य **ज्ञानमयं तपः**। मुण्ड० उ० १।१।९॥

२. तै०ब्रा० २।२।९।१-३॥

३. सोऽकामयत प्रजापतिः। भूय एव स्यात् प्रजायेत इति। सोऽग्निना पृथिवीं मिथुनं समभवत्। ततः आण्डं समवर्तत। तदभ्यमृशत्। पुष्यतु इति पुष्यतु। भूयोऽस्तु इत्येव तदब्रवीत्॥
स यो गर्भोऽन्तरासीत् स **वायुरसृज्यत**। अथ यदश्रुसंक्षरितमासीत् **तानि वयांसि-अभवन्**। अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ता **मरीचयोऽभवन्**। अथ यत् कपालमासीत् **तदन्तरिक्षमभवत्**॥ शत०ब्रा० ६।१।२।१,२॥

४. प्रजा वै तन्तुः। ऐ०ब्रा० ११।११।

वयांसि—

वेतीति वयः[१] जो गति करता है, व्याप्त होता है, उत्पन्न करता है, दीप्त करता है, फेंकता, खाता है, वह **वयः** कहा जाता है। वयांसि शब्द **वयः** शब्द का ही बहुवचनान्त रूप है। **वयः** का सामान्य अर्थ पक्षी है, पर इस प्रसङ्ग में आये हुए **वयांसि** पद का अर्थ पृथिवी पर होने वाले पक्षियों से भिन्न है। **वयांसि अग्नि**[२] **से उत्पन्न होने वाले अग्नि के धूम कण हैं "धूमो वाऽअस्य (अग्नेः) श्रवो वयः**, शत०ब्रा० ७।३।१।२९"। ये वयांसि अग्नि धूमकण वस्तुतः आपः परमाणु हैं जो त्वष्टा इन्द्र[३] = अग्नि के द्वारा त्रिशीर्षा त्वाष्ट्र वायु के सिर कट जाने पर[४] उत्पन्न हुए। इनका आयतन अन्तरिक्ष है यह शतपथ ब्राह्मण के ६।१।२।१,२ से स्पष्ट है। ये वयांसि द्विपाद् हैं अर्थात् दो बार उपलब्ध हुए हैं **"द्वौ पादौ प्रापणे उपलब्धी यस्य स द्विपाद्"**, प्रथम उपलब्धि **"वयांसि" की अन्तरिक्ष बनते** समय हुई, द्वितीय आदित्य बनने के पश्चात् **वृत्र = मेघ से 'वयांसि'** बनें। और ये वयांसि पशु हैं **"पशवो वै वयांसि"** शत०ब्रा० ९।३।३।७॥ **"धूम्रा आन्तरिक्षाः पशवः** मै० ३।१३।११"॥ पृथिवी के अतिरिक्त अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में स्थित पदार्थों का पशु नाम उन पदार्थों में अग्नितत्व[५] के दर्शन के कारण है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

प्रजापतिः तेषु पशुषु एतमग्निमपश्यत् तस्मात् वा एवैते पशवः ।

शत०ब्रा०६।२।१।४॥

---

१. **"वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु"** धातु से असुन् प्रत्यय होकर **वयः** शब्द निष्पन्न होता है। **सर्वधातुभ्योऽसुन्** उ० ४।१८९॥

२. अग्नेर्तव श्रवो **वयो** मही भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो। ऋ० १०।१४०।१॥

३. (१) अथ यत्रैतत् प्रदीप्तो भवति उच्चैः धूमः परमया जूत्या बल्बलीति तर्हि हैष **अग्निः भवति इन्द्रः**। श०ब्रा० २।३।२।११॥ (२) इन्द्रो वै त्वष्टा। ऐ०ब्रा० ६।१०॥ (३) इन्द्रो वै त्रिशिरसं **त्वाष्ट्रमहन्**। ता० १७।५।१॥

४. (१) तस्य ह वज्रेण शीर्षाणि प्रचिच्छेद तान्येव **वयांसि अभवन्**। जै०ब्रा० २।१५४॥ (२) प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुः। तानीमानि **वयांसि**। पुरुषो वै प्रजापतिर्नेदिष्ठम्। द्विपाद् वा अयं पुरुषः तस्माद् द्विपादो **वयांसि**। श०ब्रा०२।५।१।१॥

५. (१) आग्नेयो वाव, सर्वः **पशुः**। ऐ०ब्रा० ६।६॥ (२) पश्यन्ति येन वा स **पशुः 'अग्निः'** दया०उणादि० १।२७॥

वङ्गावगधाः—

वङ्गन्ति गच्छन्तीति वङ्गाः । अवगच्छन्ति दूरतमं गच्छन्ति नीचैर्गच्छन्तीति अवगाः, तान् धारयन्तीति अवगधाः । वङ्गाश्च अवगधाश्च इति वङ्गावगधाः अर्थात् जो बहने वाली तथा इधर-उधर जाने वाली विशिष्ट गति है उसको प्राप्त करने वाला '**वङ्गावगधाः**' कहा जाता है। यहाँ उस गति से युक्त अन्तरिक्ष में जो विशिष्ट पदार्थ उत्पन्न हुआ **वह 'वङ्गावगधाः' शब्दों से कहा गया है, वह है अपरवायु**[1] । यह नाम अपरवायु का यौगिक है। यह वायु अपनी विशिष्ट गति से ऊपर-नीचे तिरछी गति करता है जैसा कि कहा है—

तस्मात् अयं वायुः अस्मिन् अन्तरिक्षे तिर्यक् पवते ।

जै० ब्रा० ३।३१० ॥

इसी अन्तरिक्षस्थ वायु को ऐतरेय आरण्यक में '**वङ्गावगधाः**' कहा गया है और शतपथ के उपर्युक्त स्थल में '**सरीसृप**' नाम से कहा गया है क्योंकि वायु ऊपर-नीचे बहती हुई पल भर में कहाँ से कहाँ तक चली जाती है जैसे कि ये **क्षुद्र जन्तु सरीसृप कीट** आदि रेंगते हुए पलक झपकते ही कहाँ से कहाँ चले जाते हैं।

इरपादाः—

'इरा उदकम्[2]**, इरायाः उदकस्य पादः प्रापणं येषां कर्म इति इरपादाः ।** "**इरपाद**" जल ढोने वाले पदार्थों का नाम है, और वे पदार्थ हैं '**आपः कणों की विद्युत्**[3] **रूप रश्मियाँ**', जो मरुत् नामों से जानी जाती हैं। ये मरुत् अन्तरिक्षस्थ वायु के साथ ही उत्पन्न हुए हैं। आपः तथा अग्नि के संयोग से उत्पन्न ये मरुत् भी अन्तरिक्षस्थानी हैं। महर्षि यास्क ने मध्यमस्थानी देवगणों में मरुत् का ही प्रथम उल्लेख किया है[4]। इन मरुतों के द्वारा अन्तरिक्ष और द्यौलोक के बीच वैद्युत् चुम्बक क्षेत्र बनाना, दिशाओं को धारण करना आदि अनेक कार्य किये जाते हैं, **इनमें बरसे हुए जल को ऊपर ले जाना भी मरुतों का विशिष्ट कार्य है,** जो सृष्टि विस्तारक है—

मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति । कापिष्ठ०सं० ४५।७ ॥ अन्तरिक्ष तथा द्यौलोक में जल नयन के कारण ही मरुत् '**इरपाद**' कहे जाते हैं। यह '**इरपाद**'

१. **प्रथमभूत** वायु तो अन्तरिक्ष की उत्पत्ति से पूर्व ही उत्पन्न हो गया।
२. एति गच्छति यया सा **इरा उदकम्** । दया० उणादि० २।२८ ॥
३. आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः । ऋ० १।८८।१ ॥
४. अथातो मध्यमस्थाना देवगणाः, तेषां मरुतः प्रथमगामिनो भवन्ति । निरु० ११।२।१॥

नाम भी मरुतों का यौगिक है। जो मरुत् आदि रश्मियाँ जल आदि कर्मों द्वारा आदित्य में पहुँचती हैं उनको ताण्ड्य ब्राह्मण में **"सर्पा वा आदित्याः २५।१५।४"** आदित्यस्थ पदार्थ सर्प हैं ऐसा कहा है। इस प्रकार **ये मरुत् भी सर्प हैं** क्योंकि ये मरुत् अन्तरिक्ष से द्यौलोक तक जल स्थापन आदि कर्म में **सर्पण-गमन विशेष के द्वारा पहुँचते हैं**। इन **मरुतों को ही** ऐतरेय आरण्यक के उपर्युक्त स्थल में **'इरपादाः'** कहा है एवं शतपथ ब्राह्मण के वचन में **'सर्प'** नाम से कहा है।

शतपथ ब्राह्मण के इस पूर्वोक्त वचन में **'वयांसि'** आदि प्रजायें **अनशनता** के कारण पराभव को प्राप्त हो गईं, वे पुनः पराभव को प्राप्त न हों, इसके लिए परमात्मा ने अपने **'स्तन पयः'** से पूरित कर लिए जिससे आगे उत्पन्न होने वाली प्रजायें उस **'पयः'** को प्राप्त कर अपराभूत हुईं, ऐसा उल्लेख है। शतपथ का **'अनशनतया'** शब्द एवं **'स्तनयोः पयः'** शब्द भी विश्लेषण योग्य है।

अनशनता—

अनशनता शब्द **'अश भोजने'** तथा **'अशूङ् व्याप्तौ संघाते च"** दो धातुओं से ल्युट् प्रत्यय, ततः तल् प्रत्यय आकर निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है भोजन करना, व्याप्त होना। **न अशनता अनशनता,** नञ् लगाने पर उपर्युक्त क्रियाओं का न होना अर्थ अनशनता शब्द का जाना जायेगा। प्रासङ्गिक स्थल में **अनशनता का अर्थ व्याप्त न होना है।**

स्तनयोः—

स्तन शब्द **'ष्टन शब्दे'** तथा **स्तन 'देवशब्दे'** धातुओं का अच् प्रत्ययान्त रूप है जिसका **स्तनयोः** शब्द सप्तमी के द्विवचन का रूप है। प्रजापति के स्तन द्यावापृथिवी हैं और ऊधस् अन्तरिक्ष है जैसा कि **ताण्ड्य ब्राह्मण** में स्पष्ट किया गया है—

ऊधर्वा अन्तरिक्षम् द्यावापृथिव्याख्यौ स्तनौ अभितः अनेन (पृथिवी रूपेण) स्तनेन वा एष देवेभ्यः दुग्धे, अमुना (द्युलोकरूपेण) स्तनेन प्रजाभ्यः ।। २४।१।६ ।।

पयः—

पयः शब्द **'पा पाने'** धातु से **"रपेरत एच्च"** उणा० ४।१९० से बाहुलक द्वारा असुन् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है **"पीयते यत् तद् पयः"**

उदकं दुग्धं वा। पयः शब्द उदकादि पेय पदार्थों का वाचक है। यहाँ पर प्रसङ्गतः **पयः** का अर्थ जल है "**आपो हि पयः**" गो०ब्रा० २।१।२२॥

अत्यायमीयुः—

अत्यायमीयुः में दो शब्द हैं **अत्यायम् ईयुः**। दोनों शब्द '**इण् गतौ**' धातु से व्युत्पन्न हुए हैं। **अत्यायम् घञ्** प्रत्ययान्त है, **ईयुः** लिट् लकार का रूप है "**अतिक्रम्य आयः गमनम् इति अत्यायम्**" = **अतिक्रमण कर पहुँचना** "**अत्यायम्**" हुआ, उसको जो प्राप्त करें, पहुँचें वे **अत्यायमीयुः** शब्द से कहे जायेंगे।

जिस समय अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ उस समय आदित्य नहीं था। परमात्मा ने वायु और अन्तरिक्ष के संयोग से आदित्य की उत्पत्ति की[1]। ततः परमात्मा ने '**वयांसि**' आदि तीनों **प्रजाओं को, तन्तुओं को अन्तरिक्ष से द्युलोक में भी स्थापित कर दिया, यही इन प्रजाओं का अतिक्रमण है जो "अत्यायमीयुः" शब्द से कहा गया है** और इन **वयांसि** आदि का **दोनों लोकों में अस्तित्व हो गया यही इनकी अशनता है, अपराभूतता है**। इससे पहले **वयांसि** आदि का एक लोक में रहने से उनकी अव्याप्तता थी जो अनशनता शब्द से कही गई है। परमात्मा ने '**वयांसि**' आदि को दोनों लोकों में स्थापित कर **द्यावापृथिवी पर आपः को स्थित किया** यही **परमात्मा का अपने स्तन** में पयः का करना है। परमात्मा की इस **पयः स्थापन क्रिया से** पृथिवीस्थ मनुष्यादि प्राणी भी प्राणधारण रूप अमरता को प्राप्त हो गये। **इसी दैविक विज्ञान का रहस्य शतपथ तथा ऐतरेय आरण्यक में उद्घाटित किया गया है जिसे सायणाचार्य ने नहीं समझा।**

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्लेषण के अनुसार ऋ० ८।१०१।१४ वें मन्त्र का तात्त्विक एवं सम्यक् अर्थ इस प्रकार होगा—

प्रजा ह तिस्रः = तीन प्रजायें तन्तु (**प्रजा वै तन्तुः** ऐ०ब्रा०११।११) विस्तारक पदार्थ,

अत्यायमीयुः = सर्वत्र व्यापने वाले गमन को प्राप्त हुए (**अतिक्रम्य आयं गमनम् ईयुः**) उन प्रजाओं-तन्तुओं में,

---

१. सोऽकामयत। भूय एव स्यात् प्रजायेतेति। स वायुनाऽन्तरिक्षं मिथुनं समभवत्। तत आण्डं समवर्तत। तद् अभ्यमृशद् यशो बृहतीति। **ततोऽसौवादित्योऽसृज्यत।** शत०ब्रा०६।१।२।३॥

निअन्या = निश्चय से एक (अग्नि-धूमकण),
अर्कम् = अग्नि को (**अयं वा अग्निः अर्कः** श०ब्रा० ८।६।२।१९),
अभितः विविश्रे = चारों ओर प्राप्त हुए, प्रविष्ट हुए अर्थात् **अग्नि में स्थित हुए,**
नि अन्या = दूसरी (प्रजा मरुत्),
भुवनेषु अन्तः = लोकों के मध्य,
बृहत् = आदित्य (**आदित्यो बृहद्,** ऐ०ब्रा० ५।३०),
तस्थौ = बैठा है, स्थित है, उसमें,
विविश्रे = प्रविष्ट हुई अर्थात् **मरुत् आदित्य में** स्थित हुए,
नि अन्या = तीसरी प्रजा (अन्तरिक्ष वायु),
हरितः आविवेश पवमानः = दिशाओं में जो पवमान = वायु (**अयं वायुः पवमानः** श०ब्रा० २।५।१।५) उसमें,
विविश्रे = प्रविष्ट हुई अर्थात् वह तीसरी प्रजा अपरवायु दिशाओं में व्याप्त वायु में प्रविष्ट हो गई।

ऋग्वेद के इस मंत्र में जिस समय अन्तरिक्ष एवं द्युलोक बन रहे थे उस तात्कालिक दैवी निर्माण प्रक्रिया का संकेत किया गया है जो वस्तुतः बड़ा ही गहन अतीन्द्रिय रहस्य है जिसे उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा समासतः स्पष्ट किया गया है। यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्ववेद में भी आया है—

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्यन्या अर्कमभितोविशन्त ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ।।

अ० १०।८।३ ॥

इस मन्त्र का **पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी** ने जो अर्थ किया है वह भी बुद्धिगम्य है—

तिस्रः = तीनों (ऊँची, नीची और मध्यम), **ह** = ही, **प्रजाः** = प्रजा (कार्यरूप उत्पन्न पदार्थ), **अत्यायम्** = नित्य गमन-आगमन को, **आयन्** = प्राप्त हुए, **अन्याः** = दूसरे (कारणरूप पदार्थ), **अर्कम् अभि** = पूजनीय (परमात्मा) के आस-पास, **नि अविशन्त** = ठहरे। **रजसः** = संसार का, **बृहन् ह** = बड़ा ही, **विमानः** = विविध प्रकार नापने वाला (वा विमान रूप आधार, परमेश्वर) **तस्थौ** = खड़ा हुआ, और, **हरितः** = दुःख हरने वाले (हरि परमात्मा) ने, **हरिणीः** = दिशाओं में, **आ विवेश** = सब ओर प्रवेश किया ॥ ३ ॥

वस्तुतः ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के इस मन्त्र में आये हुए **'अर्कम्, बृहत्, पवमान'** तीनों शब्द ही उन तीन प्रजाओं का संकेत दे रहे हैं जिनका मन्त्र में बिना नाम लिए हुए **'तिस्रः'** शब्द से उल्लेख है। **तात्स्थ्य सम्बन्ध से वयांसि** आदि ही **अर्कम्** आदि नामों से कहे गये हैं, जिसे गहन-मनन चिन्तन के द्वारा जाना जा सकता है। इन तीन प्रजाओं को ही ८।१०१ के विभिन्न मन्त्रों में **ज्योति, वसु, रुद्र** नामों से कहा गया है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ३३वें सूक्त के ७वें मन्त्र में तो स्पष्ट ही इन तीनों प्रजाओं का उल्लेख है—

त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।
त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वां इत्ताँ अनु विदुर्वसिष्ठाः॥

ऋ० ७।३३।७

इस मन्त्र का तात्पर्यार्थ **जैमिनीय ब्राह्मण** में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

त्रयः कृण्वन्ति हि भुवनेषु रेतः, इत्यग्निः पृथिव्यां रेतः कृणोति वायुरन्तरिक्षे आदित्यो दिवि। तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्रा इति वसवो रुद्रा आदित्यास्तेषाम् एतज्ज्योतिर्यदसावादित्यः। 'त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते' इत्यग्निरुषसं सचते, वायुरुषसं सचते, आदित्य उषसं सचत इति। सर्वान् एव तान् अनुविदुः वसिष्ठाः। जैमिनी ब्रा० २।१४१।२॥

अर्थात् **ज्योतिः** = आदित्य[1] (आपः), **आर्याः** = वसु (**वायुर्वै वसुः अन्तरिक्षसत्** श०ब्रा० ६।७।३।११। **ऋ गतौ ण्यत् आर्याः**) गतिशील वायु जो इतस्ततः पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वह, तथा, **अग्राः** = (**अग्रगण्याः**) रुद्र = अग्नि, (**यो वै रुद्रः, सोऽग्निः** श०ब्रा० ५।२।४।१३), ये तीनों प्रजायें = तन्तु लोकों में बीज धारण का कार्य करती हैं। तीनों ही, **घर्मासः** = दीप्त हुई (**घृ क्षरणदीप्त्योः**), **उषसम्** = प्रातः कालरूप[2] सर्गारम्भ काल में, **सचन्ते** = गति देती हैं, पदार्थों को संहत करती हैं (**सचतिर्गतिकर्मा** निघ० २।१४), **तान् सर्वान्** = इन तीनों सृष्टि निर्माण के मूल तत्वों को, **वसिष्ठाः** = विद्वान् (**यो वै ब्राह्मणाः शुश्रुवांसः ते वसिष्ठाः** जै०ब्रा० २।२४२) **विदुः** = जानते हैं।

---

१. (१) **आपो** वा अर्कः, शत०ब्रा० १०।६।५।२॥ (२) **आदित्यो** वा अर्कः, शत०ब्रा० १०।६।२।६।

२. **अहोरात्रे वा उषासानक्ता।** ऐ०ब्रा० ६।४॥

इन तीनों तत्वों को अन्यत्र वेद मन्त्रों में **मित्र, वरुण, अर्यमन्** आदि नामों से भी कहा गया है। इस प्रकार—

वयांसि = अग्नि धूमकण, अग्राः; वरुण, अग्नि, भारती।

वङ्गावगधाः = अन्तरिक्षस्थ अपर वायु, आर्याः, अर्यमन् वायु, इडा।

इरपादाः = मरुत् (विद्युत् युक्त आपः), ज्योतिः, मित्र, आदित्य, सरस्वती आदि सभी नाम सृष्टि के मूल तत्वों के ही नामकरण हैं।

सायणाचार्य ने **ऋ० ८।१०१।१४ मन्त्र** में सन्निहित सृष्टि निर्माण के जो मूल तत्व थे, उनको नहीं समझा, और जहाँ शतपथ आदि ग्रन्थों में इस मन्त्र की व्याख्या आई है वहाँ पर **वयांसि**[1] आदि पद देखकर लौकिक पक्षी आदि अर्थ कर पाप, पुण्य की योनियों का फैसला कर दिखाया। वे मन्त्र के यथार्थ तक नहीं पहुँच सके। मन्त्र के तात्त्विक अर्थ से हटकर किये गये भ्रान्त अर्थ उनके भाष्यों में प्रायः देखे जा सकते हैं। जो सायणाचार्य के वेदार्थ विषयक खोखलेपन को द्योतित करते हैं।



१. ऐतरेय आरण्यक २।१।१ में आये **'वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः'** इन तीनों शब्दों का अर्थ **चतुर्वेद भाष्यकार पण्डित जयदेव विद्यालङ्कार ने भी स्पष्ट नहीं किया** और न शब्दों का उचित सन्धि विच्छेद ही किया। प्रत्युत इन शब्दों के स्थान पर **''गव, वगध, और चेरपाद'' नये शब्द घड़कर** अपने ऋ० ८।१०१।१४ के भाष्य में रख दिये हैं जो हास्यास्पद प्रतीत होते हैं।

नील गगन कितना मनभावन

गगन मण्डल में चमकते सूरज, चाँद, सितारों को देखकर हम सभी अचम्भित हैं। वे हमारे लिए एक पहेली बने हुए हैं। उनमें चमक-दीप्ति कैसे है ? उनकी आकृति-गति कैसी है ? किन्हीं में कृष्ण भाग क्यों है ? इन समस्त कौतूहलों की विस्तृत जानकारी के लिए हम लालायित हैं। खगोल विद्या को जानने के लिए विश्व प्रयत्नशील है। वैज्ञानिक वर्ग अपने बुद्धि व्यायाम के द्वारा नये-नये उपग्रहों को बनाकर अन्तरिक्षस्थ तथ्यों को जानने की कोशिश कर रहा है, पुनरपि वैज्ञानिक वर्ग अन्तरिक्ष के यथार्थ ज्ञान से बहुत दूर है, और अन्तरिक्ष में उपग्रहों द्वारा विक्षोभ पैदा कर उसे कूड़ा करकट का ढेर बना रहा है।

अभी विगत वर्षों में १३ जनवरी १९९८ के एक दैनिक-पत्र में समाचार छपा था कि "अमेरिकी अन्तरिक्षस्थ संगठन द्वारा पिछले सप्ताह 'एक लूनर प्रास्पेक्टर (चन्द्रशोधकर्ता)' उपग्रह अन्तरिक्ष में स्थापित किया गया है जो चन्द्रमा के ध्रुवीय स्थानों में स्थित बर्फीले पानी और गैसों की खोज करेगा। किन्तु हमें गर्व होना चाहिए उन शास्त्रदृष्टि वाले साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों पर जिन्होंने सदियों पूर्व ही इन अन्तरिक्षस्थ तथ्यों का अवगमन कर लिया था। इस तथ्य का प्रतिपादक बहुत सुस्पष्ट यह जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मणकार का कथन है, तथाहि—**'अथ यत् कृष्णं तद् अपां रूपम् अन्नस्य[1] मनसः[2] यजुषः[3] ।। १।८।१।९'**। अर्थात् **'चन्द्रमा पर कृष्ण रूप भाग जल है'**। ब्राह्मण के इस वचन का आधार यजु० ३१।१२ का **"चन्द्रमा मनसो जातः"** यह मन्त्र वाक्य है।

वस्तुतः भूगोल-खगोल का ज्ञान समुचित रूप से वेदों के माध्यम से ही सम्भव है। परमात्मा की इस अनिर्वचनीय सृष्टि के **नक्षत्र क्या हैं ? मास,**

---

१. **अन्नं वै प्राणः।** (ऑक्सीजन) शत०ब्रा० २।२।१।६ ॥

२. **मनो वै समुद्रः।** शत०ब्रा०७।५।२।५२ ॥ **मनश्चन्द्रमाः।** जै०उ० ३।१।२।६ ॥

३. **अथ यत् मनो यजुस्तत्** ॥ जै०उ० १।८।१।९ ॥ अर्थात् अन्न ऑक्सीजन रूप प्राण हैं एवं समुद्र रूप मन जिसे चन्द्रमा कहते हैं तथा जो संगति को, मेल को प्राप्त होता है वह चन्द्रमा जल वाला है। चन्द्रमा में स्थित जल कृष्णरूप से वर्तमान है।

ऋतुओं और राशियों का आधार क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें वेद से ही प्राप्त होगा, क्योंकि वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान के भण्डार हैं। वेद की ज्ञान गम्भीरता को महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ की भूमिका में बड़े सुन्दर शब्दों में बताया है—**'पुरुषविद्याऽनित्यत्त्वात् कर्मसम्पत्तिः मन्त्रो वेदे'**, निरु० १।२ ॥ अर्थात् पुरुष की विद्या अनित्य है। **वेदे** = वेद में, **कर्म** = ज्ञान की, **सम्पत्तिः** = बहुलता होने से, वे, **मन्त्रः** = ज्ञान की पूर्णता वाले हैं।

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह, ऋतु इत्यादि पदार्थों के नाम वेदों से लेकर ही रखे गये हैं। कई स्थानों में आये सूर्य, चन्द्र के बोधक मन्त्र सुस्पष्ट ही हैं। छहों ऋतुओं का भी आनुपूर्वी से प्रयोग यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद में उसी क्रम से आया है जिस क्रम से प्रत्येक मनभावन ऋतु प्रकृति में पदार्पण करती है, यथा—

वसन्तेन ऋतुना०, ग्रीष्मेण ऋतुना०, वर्षाभिर्ऋतुना०, शारदेन ऋतुना०, हेमन्तेन ऋतुना०, शैशिरेण ऋतुना० । यजु० २१।२३-२८ ॥

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः । वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ।। साम० ६१६ ॥

वासन्तौ मासौ, ग्रीष्मौ मासौ, वार्षिकौ मासौ, शारदौ मासौ, हैमनौ मासौ, शैशिरौ मासौ । अथर्व० १५।४।१-१८ ॥

ऋग्वेद में विभिन्न क्रम से ५ **ऋतुओं** के नाम आये हैं, शिशिर का नहीं। वर्षा का "वर्षम्" शब्द से वर्णन है—

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमुवसन्तान् । ऋ० १०।१६१।४

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः । ऋ० १०।९०।६

वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः । ऋ० ५।५८।७ ॥

अवर्षीर्वर्षम् .... । ऋ० ५।८३।१०

ये ऋतुएँ किन-किन मासों में आती हैं इसका भी यजुर्वेद में सुस्पष्टतया वर्णन है। वे मास हैं—**मधु-माधव** (वसन्त), **शुक्र-शुचि** (ग्रीष्म), **नभ-नभस्य** (वर्षा), **इष-ऊर्ज** (शरद्), **सह-सहस्य** (हेमन्त), **तप-तपस्य** (शिशिर)[1] ।

---

१. मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू। यजु० १३।२५ ॥
शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू। यजु० १४।६ ॥
नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू। यजु० १४।१५ ॥
इषश्चोर्जश्च शारदावृतू। यजु० १४।१६ ॥
सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू। यजु० १४।२७ ॥
तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। यजु० १५।५७ ॥

वेद में उपर्युक्त मधु माधवादि मासों के नाम तत्-तत् मासों की प्राकृतिक विशिष्टता के कारण से रखे गये हैं। इस विषय में ऋषिवर दयानन्द का भाष्य द्रष्टव्य है। महर्षि ने अपने भाष्य में इन मधु-माधवादि नामों के अर्थों को इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

मधु = मधु सुगन्धियुक्तः चैत्रः (मधुर सुगन्धियुक्त चैत्र)।

माधवः = मधुरादिफलनिमित्तो वैशाखः (मधुर आदि गुण का निमित्त वैशाख)।

शुक्रः = यः आशुपांसुवर्षातीव्रातपाभ्याम् अन्तरिक्षं मलिनं करोति स ज्येष्ठः, (शीघ्र धूलि की वर्षा और तीव्र ताप से आकाश को मलिन करने हारा ज्येष्ठ)

शुचिः = पवित्रकारकः आषाढः (पवित्रता का हेतु आषाढ)

नभः = नह्यन्ति घना यस्मिन् स श्रावणो मासः (प्रबन्धित = घने मेघों वाला श्रावण)।

नभस्यः = नभस्सु भवो भाद्रपदः (वर्षा का मध्यभागी भाद्रपद)।

इषः = इष्यते असौ आश्विनो मासः (चाहने योग्य क्वार महीना)।

ऊर्जः = ऊर्जन्ति सर्वे पदार्थाः यस्मिन् स कार्त्तिकः (सब पदार्थों के बलवान् होने का हेतु कार्त्तिक)।

सहः = बलकारी मार्गशीर्षः[१] (बलकारी मार्गशीर्ष = अगहन)।

सहस्यः = सहसि बले भवः पौषः (बल में प्रवृत्त हुआ पौष)।

तपः = यस्तापहेतुः स माघो मासः (ताप बढ़ाने का हेतु माघ महीना)।

तपस्यः = तपो घर्मो विद्यते अस्मिन् स फाल्गुनो मासः (ताप वाला फाल्गुन मास)।

खेद है कि लोक व्यवहार में इन मधु-माधव आदि मासों के नाम प्रसिद्ध नहीं हैं। इसका कारण वैदिक वाङ्मय के अभ्यास का लोप तथा वेद के चक्षु कहे जाने वाले सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष शास्त्रों में इन वेद प्रतिपादित नामों का अभाव होना है। परन्तु वेद के व्याख्यानभूत ब्राह्मणादि ग्रन्थों में **'मधु-माधव'** आदि नाम ही प्राप्त होते हैं **चैत्र इत्यादि** नहीं। **'मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू'** इत्यादि वेदवचनों में छहों ऋतुओं को दो-दो मास में विभक्त करते हुए जिन

---

१. 'मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि' (गीता० १०।३५) यह अपने बल सामर्थ्य को जताने के लिए ही श्रीकृष्णमहाराज ने कहा है।

'मधु-माधवादि' मासों का ऋतु अनुकूल नाम हम देखते हैं उन्हीं नामों का ज्योतिर्विदों ने अपने ग्रन्थों में प्रयोग न करके हमें इस सार्थक मनोहारी वेदोक्त शैली को विस्मृत करा दिया है, **फलतः हमें चैत्र, वैशाख आदि केवल नाक्षत्रिक नाम याद हैं मधु-माधव नहीं।** पर यह सच है कि परमात्मा द्वारा रखे गये इन नामों पर विचार कर यदि मनुष्य अपने आहार-विहार की दैनिकचर्या का क्रम रखे, तो कभी भी वह रोगग्रस्त नहीं हो सकता, यह सुनिश्चित है, क्योंकि ऋतुओं की सन्धि पर ही प्रायः विभिन्न व्याधियों का, रोगों का आक्रमण होता है—**'ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते'** (गोपथ २।१।१९)॥

ज्योतिर्विदों के दिये चैत्र-वैशाख आदि नाम नक्षत्रों के आधार पर हैं। ज्योतिष के ग्रन्थों में काल मापन के ९ मान गिनाये हैं, जिनमें नाक्षत्र मान भी है—

ब्राह्मं पित्र्यं तथा दिव्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।
सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव॥

सू० सि० मा० १॥

इन ब्राह्म इत्यादि ९ मानों में नवाँ आर्क्ष = नाक्षत्र मान है। नक्षत्र संज्ञा उन ज्योतिपुञ्जों की है जो द्यौलोक में गति करते हुए[1] सूर्य चन्द्र से बहुत दूर[2] स्थित हैं। अथवा जिनका क्षत्र[3] = श्री, दीप्ति सूर्य ने नष्ट[4] कर दी है। शतपथ ब्राह्मण में इन नक्षत्रों की उत्पत्ति चन्द्रमा के उत्पन्न होने के साथ-साथ वर्णित है—

ततश्चन्द्रमा असृज्यत एष वै रेतः अथ यत् अश्रू संक्षरितम् आसीत् तानि नक्षत्राणि अभवन्॥ शत० ६।१।२।४॥

अर्थात् चन्द्रमा के निर्माण के साथ जो **"अश्रु = आपः कण" बहे वह नक्षत्र हो गये।** वस्तुतः सूर्य चन्द्रमा आदि के समान नक्षत्रों के भी एक-एक पृथक् लोक हैं। दूर होने से लघु प्रतीत होते हैं। इन नक्षत्रों की संख्या बड़ी विशाल है। शतपथ के ही एक अन्य प्रकरण में नक्षत्रों के जन्म और संख्या का वर्णन है—

---

१. नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः। निरु० ३।२०॥
२. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद्दिवेयुः॥ ऋ० १।२४।१०॥
३. क्षत्रं वै श्रीः। मै० ४।२।६॥
४. (१) यथा सूर्यो नक्षत्राणाम् उद्यंस्तेजांसि आददे। अथर्व० ६।१४।१॥
(२) प्रग्बाहुग्वा अग्रे क्षत्राणि आतेपुः तेषा मिन्द्रः क्षत्राणि आदत्त न वा इमानि क्षत्राणि अभूवन् इति तत् नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्। तै०ब्रा० २।७।१८।३॥

तस्य तपस्तेपानस्य येभ्यः लोमगर्त्तेभ्यः ऊर्ध्वानि ज्योतींष्यायन् तद्यानि तानि ज्योतींषि एतानि तानि नक्षत्राणि। यावन्ति एतानि नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्त्ताः, यावन्तः लोमगर्त्ताः तावन्तः सहस्रसंवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ।।

शत० १०।४।४।२ ।।

अर्थात् उस प्रजापति के सृष्टि निर्माणरूपी तप को तपते हुए उसके लोमगर्त्तों से ऊपर ज्योतियाँ स्थित हुईं, तो वे ज्योतियाँ नक्षत्र हैं। जितने ये नक्षत्र हैं उतने लोमगर्त्त हैं। जितने लोमगर्त्त हैं उतने ही संवत्सर के मुहूर्त्त हैं। इस प्रकार संवत्सर के **मुहूर्त्त एक करोड़ आठ लाख हैं तो इतने ही नक्षत्र हैं तात्पर्य यह हुआ।**

इतनी विपुल संख्या वाले नक्षत्रों में से चित्रा आदि २७ नक्षत्र प्रसिद्धि को प्राप्त हैं। अथर्ववेद में चित्रा आदि प्रसिद्ध नक्षत्रों का वर्णन निम्नलिखित मन्त्रों में बड़ी सुन्दरता से आया है—

**सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारू पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ।।
पुण्यं पूर्वाफल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टमूलम् ।।
अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ।।
आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठप्रदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु[1] ।।**

अथर्व० १९।७।२-५ ।।

१. नक्षत्र नामों का इतना सुन्दर सुस्पष्ट उल्लेख वेदमन्त्रों में देखकर भी ज्योतिष में अधिकार प्राप्त कुछ विद्वान् 'नक्षत्रों के नाम वेदों में आये हैं' इसे स्वीकार नहीं कर पाते। वे लिखते हैं—वेदों में नक्षत्रों के नाम आये हैं यह सिद्ध नहीं, अभी साध्य है......। यदि नक्षत्रों के नाम वेद में मान लेवें तो वे अनित्य हो जायें..........। ज्योतिष विवेक पृ० १५४।

वस्तुतः उनका यह कथन कोरा अज्ञानतामूलक है। नित्य वही ही नहीं होता, जो ध्रुव यानी अटल हो, निश्चल स्थित हो, अपितु एक निश्चित अवधि तक रहने वाले पदार्थ भी नित्य कहे जाते हैं। द्र० महाभाष्य नवाह्निक पृ० ६० ।।

वेद के इन मन्त्रों में कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसू, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफल्गुनी, उत्तराफल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा (ज्येष्ठघ्नी), मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवण, श्रविष्ठा (धनिष्ठा), शतभिषज्, पूर्वप्रोष्ठपदा, उत्तरप्रोष्ठपदा (पूर्वभाद्रपदा-उत्तरभाद्रपदा), रेवती, अश्वयुज् (अश्विनी), भरणी ये २८ नक्षत्र निर्दिष्ट किये गये हैं। ज्योतिष के ग्रन्थों में भी अश्विनी से लेकर रेवती पर्यन्त २८ नक्षत्र उपलब्ध होते हैं। महर्षि दयानन्द ने अपनी संस्कारविधि में अश्विनी से लेकर रेवती पर्यन्त २७ नक्षत्रों का उल्लेख किया है अभिजित् का नहीं। इस नक्षत्र का उल्लेख न होने का कारण सम्भवतः इसका पृथिवी से अत्यन्त दूर होना है। ज्योतिर्विदों के अनुसार अभिजित् नक्षत्र की ज्योति पृथिवी पर पहुँचने में **२१ वर्ष बीत** जाते हैं।

अब यह जिज्ञासा रहती है कि नक्षत्र २७ वा २८ हैं और महीने में दिन ३० होते हैं तो किस प्रकार इन नक्षत्रों के आधार पर नाम रखे गये ? इसका विवेचन सूर्यसिद्धान्त मानाध्याय में किया गया है—

कार्त्तिक्यादिषु संयोगे कृत्तिकादि द्वयं द्वयम्।
अन्त्योपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिधा मास त्रयं स्मृतम्।।
सू० सि० मा० १७॥

अर्थात् कार्तिकादि मासों के नाम कृत्तिका इत्यादि दो-दो नक्षत्रों के सम्बन्ध से होते हैं। **अन्त्य** = आश्विन मास, **उपान्त्य** = भाद्रपद मास तथा **पञ्चम** = फाल्गुन मास ये तीनों, तीन नक्षत्रों के सम्बन्ध से होते हैं। यथा—

चित्रा और स्वाति के सम्बन्ध से चैत्र
विशाखा और अनुराधा के सम्बन्ध से वैशाख
ज्येष्ठा और मूल के सम्बन्ध से ज्येष्ठ
पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा के सम्बन्ध से आषाढ
श्रवण और धनिष्ठा (श्रविष्ठा) के सम्बन्ध से श्रावण
शतभिषज्, पूर्वप्रोष्ठपदा और उत्तरप्रोष्ठपदा (पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा) के सम्बन्ध से भाद्रपद
रेवती, अश्विनी और भरणी के सम्बन्ध से आश्विन।
कृत्तिका और रोहिणी के सम्बन्ध से कार्त्तिक।

मृगशिरा और आर्द्रा के सम्बन्ध से मार्गशीर्ष।
पुनर्वसु और पुष्य के सम्बन्ध से पौष।
आश्लेषा और मघा के सम्बन्ध से माघ।
पूर्वाफाल्गुनी-उत्तराफाल्गुनी और हस्त के सम्बन्ध से फाल्गुन।

इसी प्रकार २$\frac{१}{४}$ सवा दो-दो नक्षत्रों के मेल से बनी पशु-पक्षियों की आकृति ही राशि है जिन्हें हम मेष, वृष आदि के नाम से जानते हैं।

तात्पर्य हुआ कि इन २७ नक्षत्रों का प्रतिदिन क्रमशः योग होता है, उस क्रम में चन्द्रमा के पूर्ण हो जाने पर जो नक्षत्र आता है उसी नक्षत्र के नाम से पूरे मास का नाम जाना जाता है। यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि चित्रादि नक्षत्रों का पूर्णिमा के दिन योग न हो, किन्तु उनके साथ जुड़े हुए दूसरे नक्षत्रों का योग हो, तो भी वह पूर्णिमा चैत्री आदि और मास चैत्र आदि नाम से जाने जायेंगे। ये चैत्र, वैशाख आदि नाम वेद तथा ब्राह्मणादि वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होते, पुनरपि वेद प्रतिपादित चित्रा, विशाखा आदि नक्षत्र नामों पर रखे गये ये नाम वैदिक तो हैं ही।

इस प्रकार नक्षत्रों के आधार पर रखे गये इन चैत्र, वैशाख आदि महीनों के नामों को नाक्षत्र मास भी कहा जायेगा तथा ये चान्द्र मास भी कहलायेंगे।

चान्द्रमास १५-१५ तिथियों को मिलाकर बनता है। वह दो प्रकार का है अमान्त तथा पूर्णिमान्त[१]। एक अमावस्या से दूसरी अमावास्या का काल अमान्त मास होता है। एक पूर्णिमा से दूसरी पूर्णिमा तक का काल पूर्णिमान्त मास होता है।

अमान्त मास अधिक प्रसिद्ध है। इसका कारण सूर्य और चन्द्र की एक विशिष्ट घटना है। अमा नाम की एक सूर्य रश्मि है, जैसा कि ऋग्वेद १०।२७।२ का यह मन्त्र प्रतिपादित कर रहा है—

अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं नि षिञ्चम्॥

अर्थात् **तीव्रं सुतम्** = प्रदीप्त सोम को, **निःसिञ्चम्** = सिञ्चन करने वाले, **पञ्चदशं वृषभम्** = १५-१५ दिन तक वर्षण करने वाले, **तुम्रम्** = अन्धकार

१. अमावस्यया हि मासान् संपश्यन्ति, पौर्णमास्या हि मासान् संपश्यन्ति। तै०सं० ७।५।६।१॥

आहन्ता, **ते** = तुझ चन्द्रमा को, मैं **'सूर्य' अमा** = रश्मि से, **पचानि** = पकाता हूँ अर्थात् निस्तेज करता हूँ।

वस्तुतः चन्द्रमा गति करते-करते जिस अमा रश्मि पर सूर्य होता है उसी पर पहुँच जाता है, अर्थात् दोनों का उस रश्मि पर वास होता है अतः उस काल का नाम **'अमायां रश्म्यां सूर्यचन्द्रमसोः वासः इति अमावास्या' है।** सूर्य तथा चन्द्र के एक साथ वास के कारण ही **'अमा' शब्द सह अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।** इसलिए **'अमावास्या'** शब्द का विग्रह किया जाता है—**सह वसतः अस्मिन् काले सूर्यचन्द्रमसौ इति अमावास्या।** सूर्य तथा चन्द्रमा के साथ-साथ रहने की यह घटना भी खगोल की विचित्र तथा विशिष्ट है इसको ध्यान में रखकर हमारे प्राचीन लोगों ने अमान्त मास का प्रयोग व्यवहार में किया है।

नील-गगन के इन चाँद-सितारों को हम जान सकें, पहचान सकें, इसके लिए ऋषियों ने नक्षत्रों के देवता प्रतिपादक नाम निश्चत किये हैं। ये नाम गुण-कर्म-स्थान तथा आकृति के आधार पर ही रखे गये हैं जो नितान्त सार्थक हैं। इनका प्रामाणिक विवेचन विस्तार भय से यहाँ न होकर पृथक् किया जायेगा। अभी इन चैत्र, वैशाख आदि मासों में जिन मासों के दो-दो नाम प्रसिद्ध हैं उनका विश्लेषण प्रस्तुत है। दो नाम वाले मास **आश्विन** तथा **मार्गशीर्ष** हैं जिनका दूसरा नाम क्रमशः **आश्वयुज्** तथा **आग्रहायण** है। प्रथम आश्वयुज् को लें—

आश्वयुज् मास का आश्विन पर्यायवाची शब्द है जो व्यवहार में अति प्रसिद्ध है। ये दोनों ही नाम वेद प्रतिपादित तथा स्वतन्त्र हैं।[1] **अश्वयुज्** उस नक्षत्र का नाम है **जो सूर्य में दो जुड़े हुए घोड़ों के समान या दो घुड़सवार के समान आकृति वाला है अर्थात् द्वित्त्व का वाचक है। 'अश्विनौ'** (अश्विनी-अश्विना) शब्द भी **दो अश्व या अश्व वाले दो, का वाचक है,** क्योंकि वेद में सर्वत्र **'अश्विनौ' शब्द द्वित्व**[2] अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। नक्षत्र प्रसंग में अश्विनौ का अर्थ[3] अश्वाकृति नक्षत्र करेंगे। इस प्रकार वेद के अन्य स्थलों में द्वित्व अर्थ

---

१. (१) आ रेवती चाश्वयुजौ। अथर्व० १९।७।५॥
(२) यत् धातासि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्। अथर्व० ६।१३१।३॥
(३) आश्विनश्च मे। यजु० १८।१९॥

२. तत् कौ अश्विनौ ? द्यावापृथिव्यौ इत्येके, अहोरात्रौ इत्येके, सूर्याचन्द्रमसौ इत्येके, राजानौ पुण्यकृतौ इत्यैतिहासिकाः। निरु० १२।१।१॥

वाले अश्वयुज् शब्द का पर्याय 'अश्विनौ' शब्द प्रयुक्त हुआ है, ऐसा नक्षत्र प्रसंग में जानना चाहिए। उन्हीं **'अश्विनौ'** आदि शब्दों से **'आश्विन'** शब्द की निष्पत्ति होती है। 'अश्वयुज्' शब्द के एक देश **'अश्व[1]'** से भी **अश्विनौ** या **अश्विनी** बना कर **'आश्विन'** बनेगा।

कतिपय संस्कृत भाषा के ज्ञाता जन **'अश्विनी कुमार'** शब्द के **'अश्विनी'** शब्द से **'आश्विन'** शब्द बना है ऐसा कहते सुनते हैं, परन्तु उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनका ऐसा मानना यथार्थ नहीं।

प्राय: शब्दकोषों में भी 'आश्विन' शब्द की व्युत्पत्ति अश्विनी कुमार से नहीं की गई है, अपितु 'अश्विनेयौ' शब्द की व्युत्पत्ति में 'अश्विनीकुमार' का सम्बन्ध दिखाया है जो प्रसिद्ध नकुल तथा सहदेव यमल भ्राताओं का वाचक है।

संस्कृतज्ञों की इस भ्रान्ति का श्रेय ज्योतिष शास्त्रियों को है जिन्होंने **'अश्विनीकुमार'** तथा **'अश्विनौ'** की शब्दाकृति साम्य होने से **'अश्वयुज्'** नक्षत्र का देवता **'अश्विनीकुमार'** लिख मारा। जबकि तैत्तिरीय संहिता आदि में **'अश्वयुज्'** का देवता **'अश्विनौ'** ही उपलब्ध होता है—**अश्वयुजौ नक्षत्रौ अश्विनौ देवता** ॥ तै०सं० ४।४।१०।२६ ॥ यह दुर्गति वैदिक वाङ्मय की पठन-पाठन परम्परा लुप्त होने से हुई, जिससे वे 'दैवज्ञ' संहिता पाठ देखकर भी **'अश्विनौ'** को **'अश्विनीकुमार'** समझने में संकुचित नहीं हुए। फलत: लोक में यही शब्द प्रसिद्धि को प्राप्त हो गया और अन्ततः वह दो भागों में भी बँट गया। जन समाज जिसे **आसों (अश्विनी)** तथा **कुवार-क्वार (कुमार)** इन दो नामों से व्याहृत करता है तथा **अश्विनीकुमार शब्द से 'आश्विन' मास** का नाम पड़ा है इस भूल को पाल रहा है।

अब **'आग्रहायण'** मास को लें – आग्रहायण नाम मार्गशीर्ष मास का क्यों पर्यायवाची बना ? इस पर किञ्चित् दृष्टिपात करें, तो हमें ज्ञात होगा कि **'अग्रहायण'** नाम का कोई नक्षत्र नहीं है और न कहीं अग्रहायण शब्द की नक्षत्रपरक व्युत्पत्ति उपलब्ध होती है। पुन: **मार्गशीर्ष मास का अपर नाम 'आग्रहायण' होना उस मास की अन्वर्थक विशिष्टता ही है।** शब्दविदों ने मार्गशीर्ष की **आग्रहायण संज्ञा यौगिक रखी है। इस मास की विशिष्टता है धानों की उत्पत्ति** जिसे हम सभी जानते हैं। इसी विशिष्टता को वाचस्पत्य कोष पृ० ६६, ६२३ में इस प्रकार प्रतिपादित किया है—**'अग्र: श्रेष्ठ: हायनो**

---

१. अश्वै: अश्विनौ इति और्णनाभ: । निरु० १२।१।१ ॥

व्रीहिः, मार्गशीर्षे मासि इति अग्रहायणः । अग्रहायण्या मृगशीर्षनक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी आग्रहायणी, सा अस्ति अस्मिन् मासे इति आग्रहायणः मासः'' ।

तात्पर्य हुआ **मार्गशीर्ष मास का आग्रहायण नाम इस मास में धानों की श्रेष्ठ उत्पत्ति होने के कारण है, नक्षत्र के कारण नहीं । 'आग्रहायण'** शब्द दो शब्दों से बना है **अग्र तथा हायन । हायन** शब्द **हश्च व्रीहिकालयोः** अष्टा० ३।१।१४८ सूत्र से ल्युट् प्रत्यय करके सिद्ध होता है जो धान तथा काल का वाचक है ।

कुछ लोगों को **'हायन'** शब्द के वर्ष अर्थ होने से भ्रान्ति हुई कि वर्ष का आरम्भ मार्गशीर्ष से भी माना जाता था, तदनुसार इस मास के अपरनाम **आग्रहायण** शब्द की व्युत्पत्ति 'वर्ष के आरम्भक अर्थ वाली' की जाने लगी । यथा—भट्टोजिदीक्षित की **'आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक्'** सूत्र पर **'अग्रे हायंनम् अस्याः इति आग्रहायणी[1]'** (सिद्धान्त कौ० सू० १२२४) यह पंक्ति द्रष्टव्य है । दीक्षित जी की इन पंक्तियों के आधार पर ही शब्दकल्पद्रुम कोषकार ने भी **'हायनस्य वर्षस्य अग्र इति अग्रहायणः'** (पृ० १२) **'मत भेदे' संवत्सराद्यमासोऽयम्'** पृ० १६६, ऐसा व्युत्पादन आग्रहायण शब्द का किया । परन्तु यह कथन वैदिक वाङ्मय के विपरीत है । वैदिक वाङ्मय में मार्गशीर्ष मास से संवत्सर का आरम्भ होता है ऐसा कहीं पर वर्णन नहीं है ।

कुछ विद्वान् **'आग्रहायण'** शब्द का मूल **'आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे०'**, यजु० १८।२० मन्त्र में आये **आग्रयण** शब्द को मानते हैं । यह उन विद्वानों की निर्मूल धारणा है क्योंकि वेद का यह शब्द वैदिक वाङ्मय में **''नये अन्न से किये जाने वाले यज्ञ'** का वाचक उपलब्ध होता है । यथा—

यत् अकृत्वा आग्रयणं नवस्य अश्नीयात् देवानां भागं प्रतिक्लृप्तम् अद्यात् ।।

गो०ब्रा० २।१।१७ ।।

अर्थात् जो **अग्रयण** = नये अन्न का यज्ञ न करके नये अन्न का भोजन करे वह देवताओं के प्रत्यक्ष उपस्थित भाग को खा लेता है । महर्षि दयानन्द ने भी पूर्वोक्त मन्त्र के वेदभाष्य में **'आग्रयणः = मार्गशीर्षादिमासनिष्पन्नः यज्ञ-विशेषः'** तथा भावार्थ में **'सामयिकीं क्रियाम्'** ऐसा **आग्रयण** शब्द का अर्थ

१. इसके आगे वर्ष है अर्थात् यह वर्ष का प्रारम्भ है ।

किया है। महर्षि ने यहाँ **आदि** शब्द लगाया है जिससे स्पष्ट है कि यह **आग्रयण शब्द मात्र मार्गशीर्ष का ही पर्याय नहीं है अपितु जिन-जिन मासों में नवान्न से यज्ञ होगा वे सभी मास आग्रयण कहलायेंगे।**

हमारे नव वर्ष का, संवत्सर का प्रारम्भ तो वसन्त ऋतु से होता है यह एक सुनिश्चित तथ्य है जिसे निम्नलिखित प्रमाणों से भलीभाँति हम अनुगम कर सकते हैं। यथा—

१. एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत् फाल्गुनी पौर्णमासी या उत्तरैषा उत्तमा या पूर्वा मुखतऽ एव तत् संवत्सरम् आरभते ।।

शत० ६।२।२।१८ ।।

२. मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी ।।

गो०ब्रा० २।१।१९ ।।

३. यदुत्तरे[1] फल्गुनी, मुखत एव संवत्सरस्य ।।

तै०ब्रा० १।१।२।८ ।।

४. चक्षुर्वा एतत् संवत्सरस्य यत् चित्रा पूर्णमासः ।।

ताण्ड्य ब्रा० ५।९।११ ।।

५. तस्य ते (संवत्सरस्य) वसन्तः शिरः ।।

तै०आ० ४।१९ ।।

६. मुखं वा एतत् ऋतूनां यद् वसन्तः ।।

तै०ब्रा० १।१।२।६,७ ।।

उपर्युक्त सभी वचनों से यह सुस्पष्ट है कि उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र की समाप्ति तथा चित्रा नक्षत्र के योग काल से ही अर्थात् चैत्र मास से संवत्सर का प्रारम्भ होता है और तभी वासन्ती परिधान में सजी हमारी सुरम्य प्रकृति भी नवचेतना से भरी हुई दीखती है।

खेद है धरती का पुत्र अपनी धरती से न जुड़कर विदेशी सभ्यता का दास बन गया है तथा दिसम्बर महीना (पौष) समाप्त होने पर ही नये वर्ष की बधाई

---

१. फाल्गुन मास के पूर्व के १५ दिन की अमावास्या में सम्वत्सर का अन्त होता है। फाल्गुन मास के अन्त के १५ दिन की पूर्णिमा को वर्ष का प्रारम्भ होता है।

परस्पर देता फिरता है, **'ग्रिटिंग कार्ड'** भेजता-भिजवाता है। पहली जनवरी के दिन **''हैप्पी न्यू ईयर''** की धुन लग जाती है।

ऐसे अन्धानुकरण प्रवृत्ति वाले अज्ञानी जनों की क्या बात कहें तथा वैदिक वाङ्मय से बहुधा अछूते इन **भट्टोजिदीक्षित महाराज की भी** क्या गाथा गाई जाये ? परन्तु आश्चर्य तो उन महान् पण्डितों पर होता है जो वेद की मान्यताओं से तथा वैदिक ग्रन्थों से पूर्णतया सुपरिचित हैं वे यथार्थ को जानने का प्रयत्न न करके उसी अज्ञानतावश चली आ रही धारणा को ही निस्संकोच धड़ल्ले से कहते हैं। अभी हाल में एक विद्वान् संवत्सरादि के विषय में चर्चा करते हुए अपने वक्तव्य में कह गये कि **'अश्विनी कुमार' शब्द से आश्विन बना है, तथा कभी मार्गशीर्ष मास से भी वर्ष का आरम्भ होता था,** अतः उसका **आग्रहायण नाम भी है**। शतधन्य है उनकी विद्वत्ता को !

वस्तुतः खगोल-भूगोल विद्या के ज्ञापक शब्दों का विवेचन वेद तथा वैदिक ग्रन्थों के चिराभ्यास से ही सम्भव है, अन्यथा कोषों के आधार पर वैदिक शब्दों का निर्वचन करेंगे तो हम वेदज्ञान से दूर-दूरतम होते जायेंगे।



वेदों में विज्ञान-

एक चिन्तन, विद्युत् चुम्बकीय तरंगों पर

आधुनिक युग उपलब्धियों का है और ये उपलब्धियाँ विज्ञान= Science (साइंस) की सौगात हैं यह सुविदित है। विज्ञान ने मानव की प्रत्येक दूरी को समय-साध्यता को सन्निकटता में, शीघ्रता में बदल दिया है। आज विज्ञान विश्व का वह अवलम्ब बन चुका है कि जिसके अभाव में सर्वत्र अहित ही अहित दीखेगा, हम निष्प्राण से प्रतीत होंगे ऐसा आभास होता है। विज्ञान की महत्ता एवं इसकी उपयोगिता से इस प्रकार ओत-प्रोत होने पर भी **विज्ञान शब्द की यथार्थ वाच्यता से हम** अपरिचित ही हैं इसमें सन्देह नहीं।

''**विज्ञान**'' शब्द जो '**साइंस**' का पर्याय माना जाता है वह **वस्तुतः 'वेद' शब्द का पर्याय है । 'विद ज्ञाने', 'विद विचारणे' 'विद्लृ लाभे'** आदि धातुओं से निष्पन्न[1] **'वेद'** संज्ञा उस ज्ञान की है जिसके द्वारा या जिससे सभी सत्य विद्याओं को जानते हैं, प्राप्त करते हैं एवं विचारते हैं। वि उपसर्ग पूर्वक **'ज्ञा अवबोधने'** धातु से निष्पन्न[2] 'विज्ञान' शब्द भी उस ज्ञान या बोध का वाचक है जिसके द्वारा एक तथ्य, निचोड़ प्राप्त होता है, ज्ञात होता है। कहने का तात्पर्य हुआ **जिसके द्वारा सृष्टि के समस्त जड़ चेतन पदार्थों का ज्ञान हो वह विज्ञान है अर्थात् विज्ञान नाम शिल्प = कारीगरी, और शास्त्र[3] दोनों का है । शास्त्र ज्ञान के अन्तर्गत शास्त्र की योनि[4] = कारण परमेश्वर का ज्ञान भी आयेगा ।**

विज्ञान के प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द द्वारा दी गई विज्ञान शब्द की परिभाषा को वरीयता प्रदान करना अनुचित न होगा। **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ''अथ वेदविषयविचारः''** प्रकरण में महर्षि ने लिखा है—

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात् । तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति । तस्य परमेश्वरादारभ्य

---

१. विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति-विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैः येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः ॥

२. विशेषेण जानन्ति सर्वाः विद्याः येन यस्मिन् वा तद् विज्ञानम् ॥

३. विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः ॥ अमर० १।५।६ ॥

४. शास्त्रयोनित्वात् ॥ वेदा० द० १।१।३ ॥

तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षात् बोधान्वयत्वात् । तत्रापि ईश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति । कुतः ? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति, ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात् ।

तात्पर्य हुआ **विज्ञान वह विद्या है जो तीनों लोकों के पदार्थों का अर्थात् परमेश्वर से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म तृणपर्यन्त पदार्थों का बोध कराती है । इस विज्ञान विद्या का मुख्य प्राप्य वह जगन्नियन्ता परमेश्वर है । परमेश्वर की प्राप्ति में ही विज्ञान शब्द की सार्थकता है, यह ऋषिवर का उद्घोष है ।**

परन्तु सम्प्रति खेदावह कथ्य यह है कि आज के विज्ञान की उपलब्धियों में जड़ जगत् का ही प्राधान्य है । विज्ञान शब्द की जो गहराई है उससे तो दूर-दूर तक नाता नहीं है । परमेश्वर को तो विज्ञान के अध्ययन तथा प्रयोगशालाओं से तुषवत् पृथक् कर दिया जाता है, जबकि परमेश्वर ही सृष्टि के समस्त ज्ञान को देने वाला है, पदार्थों का रूप प्रदाता है, उनके अस्तित्व को निखारता है । **आधुनिक पदार्थ विद्याविदों के नवीन-नवीन आविष्कारों को देख हम यह सोच रखते हैं कि यह उन वैज्ञानिकों की अपनी ऊहा है, उनका स्वतः का विशिष्ट आविष्कार है परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं ।** उनके मस्तिष्कों में भी परमात्मा द्वारा दिया हुआ ज्ञान ही कार्य कर रहा है, अन्यथा परमात्मा सर्वज्ञ है यह विशेषण निरर्थक होगा और उसके द्वारा प्रदत्त वेदज्ञान भी सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सर्वविद्य न होकर एकदेशी तथा वैयक्तिक सिद्ध हो जायेगा ।

इस तथ्य को हम किञ्चित् सृष्टि के उस काल में पहुँचकर विचारें—जिस समय दृश्य जगत् का प्रादुर्भाव हुआ और जीव-जन्तु-प्राणियों के अतिरिक्त मानवोत्पत्ति हुई, तब मानव सहित सभी प्राणियों को अपने-अपने कार्य को सम्पन्न करने का स्वाभाविक ज्ञान प्राप्त हुआ और मानव को अपना एवं सृष्टि के समस्त जड़-चेतन पदार्थों से उपयोग और पदार्थों की महत्ता जानने के लिए चारों वेदों के रूप में एक विशिष्ट ज्ञान भी प्राप्त हुआ । यह विशिष्ट ज्ञान इस सृष्टि के निमित्त कारण परब्रह्म से मिला, क्योंकि सबका पिता, उत्पादक प्रभु ही आदि गुरु है—

(स एष) पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।। योग०द० १।२६ ।।

परमात्मा द्वारा प्रदत्त वेदज्ञान सब विद्याओं का आगार है, मूल है इसमें यत्किञ्चित् भी सन्देह नहीं । **'सर्वज्ञानमयो हि सः, सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'**

मनु० २।७, १२।९७।। मनु महाराज के ये वचन वेद की सर्वविद्यामयता को स्पष्ट रूप से प्रकट कर रहे हैं। परमात्मा ने वेदज्ञान सभी देशों तथा सभी लोकों के मानवों के लिए समान रूप से प्रदान किया, इसमें भी दो राय नहीं।

हाँ! ज्ञान प्राप्ति में तर-तम हो सकता है क्योंकि ज्ञान प्राप्ति में ग्रहीता का अपना सामर्थ्य बहुत विशिष्ट स्थान रखता है। अपने सामर्थ्य के अनुसार ही व्यक्ति उसे ग्रहणं करता है। जैसे कक्षा में अध्यापक समान रूप से किसी भी विषय को उपदिष्ट करता है किन्तु अध्येता अपने सामर्थ्य के अनुसार कोई अधिक, कोई न्यून रूप से ग्रहण कर पाते हैं, वैसे ही परमात्मा प्रदत्त ज्ञान को भी कोई अधिक, कोई कम ग्रहण करते हैं, और कोई बिल्कुल नहीं। विद्या ग्रहण के इस यथार्थ तथ्य को **परमात्मा ने स्वयं ही – अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः** । ऋ० १०।७१।७। इस मन्त्र से स्पष्ट कर दिया है।

सृष्टि के आदि में ऋषि-महर्षि परमेश्वर तथा पदार्थों का ज्ञान समान रूप से रखते थे। इस बात के प्रमाण वेदों के व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थ एवम् उपनिषदें आदि आर्ष ग्रन्थ हैं, जिनमें उभयविध विद्या के तथ्य सन्निहित हैं। शनैः शनैः संस्कारवशात् बुद्धिमालिन्य दोष होने पर जो वेद विद्या संसार के कोने-कोने में, चाहे देश हो या विदेश सर्वत्र फैली हुई थी, वह संकुचित हुई और स्थिति यह पैदा हुई कि कुछ लोग केवल पदार्थ विद्या को ही जानने लगे और कुछ परमेश्वर की उपासना में ही संलग्न हो गये और वह उपासना भी वेदविहित न होने से मत-मतान्तरों की जनक हो गई।

विज्ञान विद्या के ह्रास की स्पष्ट स्थिति यह हुई कि अमेरिका, यूरोप आदि पाश्चात्य देशों में पदार्थ विद्या का ही महत्व रह गया और इतर देशों में विविध भगवानों की पूजा का। यदि पाश्चात्य देशों में विज्ञान की शिक्षा में ईश्वर का बोध महत्वपूर्ण समझा गया होता तो आज ईश्वर के विषय में जो भ्रान्त धारणायें, कल्पनायें हैं वे न हुई होतीं, मत-मतान्तरों की भीड़ न होती, मेरा-तेरा का भाव उद्बुद्ध न होता और **महर्षि के वचनानुसार विज्ञान का मुख्य उद्देश्य पदार्थों को जानते हुए उस जगत् नियन्ता को प्राप्त करना, उसका दर्शन करना मुख्य ध्येय होता**। आज के विज्ञान की कैसी वञ्चना है, परमात्मा द्वारा प्रदत्त पदार्थों से ही हम नये-नये आविष्कार कर रहे हैं और उस मूल परमेश्वर का ही ज्ञान नहीं।

यहाँ ध्यातव्य तथ्य है कि जब तक विज्ञान के ज्ञान में पदार्थों के स्रष्टा परमेश्वर का स्थान था तब तक पदार्थों का ज्ञान करना भी सरल था, सुगम था, काठिन्य न था। हम दूर क्यों जायें अभी कुछ दिन पहले तक आधुनिक वैज्ञानिकों को इस बात का पता न था कि चन्द्रमा में जो कृष्ण भाग है वह क्या है ? उन्हें अब जाकर **१३ जनवरी १९९८ को "चन्द्र शोधकर्त्ता उपग्रह"** छोड़ने के बाद **फरवरी १९९८ को** पता चला कि कृष्ण भाग जल का है, जबकि हमारे ईश्वरोपासक **ऋषियों को बहुत पहले ही ज्ञात था कि चन्द्रमा[1] का कृष्णभाग जल का है** । ऋषियों ने यह ज्ञान परमात्मा द्वारा प्रदत्त **'चन्द्रमा मनसो जातः'**० यजु० ३१।१२ मन्त्र के दर्शन से ज्ञात कर लिया था। एतादृश अनेकों उदाहरण हैं।

अब **'विद्युत् चुम्बकीय तरङ्गें'** **जो विज्ञान की मूलभूत आधार हैं** जिनसे सभी आविष्कार साधे जाते हैं उनका वेदों में बड़ी उत्कृष्टता से वर्णन है, उन पर दृष्टिपात करते हैं—

विद्युत् की चुम्बकीय तरङ्गों को समझने के लिए प्रथम तो हमें विद्युत् को एवं विद्युत् के निवास स्थान अन्तरिक्ष को समझना चाहिए। अन्तरिक्ष लोक मध्य लोक है, जिसमें आपः रहते हैं—**आपः स्थ समुद्रे[2] श्रिताः।** तै०ब्रा० ३।११।१।५ ॥ इन्हीं अन्तरिक्षस्थ आपों[3] में मरुत् रहते हैं। इन मरुतों का पिता रुद्र[4] है। (यह रुद्र अग्नि[5] तथा विद्युत्[6] के रूप में भी वर्णित है।) और माता पृश्नि[7] है। **मरुत् आपः कणों की विद्युत्[8] रश्मियाँ[9] हैं** । ये मरुत् आपः तथा पृथिवी के योग से बने हैं। वेदों में विभिन्न प्रकार की विद्युतों के नाम

---

१. (१) मनश्चन्द्रमाः जै०उ०ब्रा० ३।१।२।६ ॥ (२) अथ यत् कृष्णं तद् अपां रूपमन्नस्य मनसो यजुषः। जैमिनीयो०ब्रा० १।८।१।९ ॥
२. समुद्रः अन्तरिक्षनामसु पठितम्। निघ० १।३ ॥
३. अप्सु वै मरुतः ॥ कौषीत०ब्रा० ५।४ ॥
४. इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम् ॥ ऋ० १।११४।६ ॥
५. रुद्रो वा अग्निः ॥ कपिष्ठ० ४०।४ ॥
६. हस्काराद् विद्युतस्पर्यतो जाता अवन्तु नः। मरुतो मृडयन्तु नः ॥ ऋ० १।२३।१२ ॥
७. (१) मरुतः सोमपीतये। उग्रा हि पृश्निमातरः ॥ ऋ० १।२३।१० ॥ (२) अन्नं वै देवाः पृश्नीति वदन्ति। ताण्ड्यब्रा० १२।१०।२४ ॥ (३) अन्नं वा आपः ॥ तै०ब्रा० ३।८।२।१ ॥
८. आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ॥ ऋ० १।८८।१ ॥
९. मरुतो रश्मयः ॥ ताण्ड्य०ब्रा० १४।१२।९ ॥

हैं। उन विद्युतों के साथ इन मरुतों का प्राय: सम्बन्ध है। इनके सात-सात गण[१] हैं। वेदों में इन मरुतों के अनेक कार्य विहित हैं। इनका वृष्टि[२] कार्य प्रमुख है। मरुत् स्वर्णिम दीप्ति[३] वाले हैं, अग्नि रूप[४] हैं, विद्युत् इनके रथ हैं[५], इनके रथ चक्र स्वर्णिम हैं[६], ये ध्वनि करते हैं[७], पर्वतों[८] को हिलाते हैं[९], तोड़ते हैं[१०], वायु के साथ तेज से चलने पर कोहरा करते हैं[११], समुद्र से जल ले जाते हैं, पुन: पृथिवी पर गिराते हैं[१२] आदि-आदि बृहत्तम कार्य प्राप्त होते हैं। मरुतों = विद्युत् रश्मियों के इन्हीं कार्यों में चुम्बक क्षेत्र बनाना तथा चुम्बकीय तरङ्गों का उठना भी है। मरुतों के चुम्बकीय कार्यों का वर्णन वेद में **'अयोदंष्ट्रान्'**, **'अयोदंष्ट्र:'**, **'अयोहतम्'**, **'अयोहनु:'**, **'हिरण्यचक्रान्'** आदि शब्दों से किया गया है।

मरुतों की चुम्बकीय तरङ्गों का वर्णन निम्न मन्त्रों में देखें—

एतत् त्यन्न योजनमचेति सस्वर्ह यन्मरुतो गोतमो व: ।
पश्यन् हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून् ।।

ऋ० १।८८।५ ।।

पदार्थ—हे **मरुत:** = विद्युत् रश्मियों, **यत्** = जो, **एतत्** = यह, **त्यत्** = वह, **योजनम्** = सम्बन्ध बल है वह, **न** = नहीं, **अचेति** = जाना जाता है **(चिति संज्ञाने)**, क्योंकि वह, **ह** = निश्चय से, **सस्व:** = उपतापित है, **अन्तर्हित है (स्वृ शब्दोपतापयो:)**, **व:** = तुम्हारे, **विधावत:** = विशिष्ट मार्ग वाले, **वराहून्** = श्रेष्ठता से हरण करने वाले, **हिरण्यचक्रान्** = सोने आदि का तेज **जिनमें** = जिन चक्रों में है उन, **अयोदंष्ट्रान्** = लोहदंशनों को, **गोतम:** = उत्तम वाणी वाले, विद्वान् **(प्रकृष्टा गौ: = वाक् येषां ते गोतमा:)**, **पश्यन्** = देखते हैं।

---

१. मारुतं गणम्। ऋ० १।३८।१५ ।। गणं मारुतम्। ऋ०५।५३।१० ।।
२. वातत्विषो मरुतो वर्णनिर्णिज: ।। ऋ०५।५७।४ ।।
३. अरेणवो हिरण्यया स: ।। ऋ० ६।६६।२ ।।
४. प्रयन्तु वाजास्तविषीभिरग्नय: ।। ऋ० ३।२६।४ ।।
५. आ विद्युन्मद्भिर्मरुत: स्वर्कै: रथेभि: ।। ऋ० १।८८।१ ।।
६. हिरण्ययेभि: पविभि: पयोवृध: ।। ऋ० १।६४।११ ।।
७. प्रतिघोराणामेतानामयासां मरुतां शृण्व आयतामुपब्दि: ।। ऋ० १।१६९।७ ।।
८. पर्वत इति मेघनामसु पठितम् ।। निघ० १।१० ।।
९. प्रवेपयन्ति पर्वतान् ।। ऋ० ८।७।४ ।।
१०. उज्जिघ्नन्त आपथ्यो न पर्वतान् ।। ऋ० १।६४।११ ।।
११. वपन्ति मरुतो मिहम् ।। ऋ० ८।७।४ ।।
१२. आप: समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।। अथर्व० ४।२७।४ ।।

भावार्थः—हे **मरुतो** = विद्युत् रश्मियो ! तुम्हारा जो युक्त होने का कार्य है वह अन्तर्निहित होने से देखा नहीं जाता है, उस जुड़ने के कार्य को अर्थात् रोगों का श्रेष्ठ हर्त्ता और सोने आदि की दीप्ति से युक्त जो **अयोदंष्ट्र** = लोह, **दंशन** = खिंचाव है उसे **गोतम** = विद्वान् देखते हैं, जान लेते हैं।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ।।

अथर्व० ८।३।२ ।।

पदार्थ—**हे जातवेदः** = विद्युत्, **समिद्धः** = सम्यक् दीप्त, जो **अयोदंष्ट्रः** = लोहदंशन है उसकी, **अर्चिषा** = ज्योति से, **यातुधानान्** = पीडयिताओं को, **उपस्पृश** = दूर ले जाओ, और, **आ** = निश्चय से, **मूरदेवान्** = मूर्खता से जो दीप्त हैं, उनको (**मूराः मूढाः**, निरु० ६।८।३७), **जिह्वया** = ज्वाला से, **रभस्व** = दूर कर, **क्रव्यादः** = मांस भक्षकों को, **वृष्ट्वा** = खींचकर (**वृष शक्तिबन्धने**), **आसन्** = मुख में, **अपिधत्स्व** = बन्द कर दो।

भावार्थः—हे जातवेदः विद्युत् ! दीप्त होती हुई, **अयोदंष्ट्र (अयोदंशन)** चुम्बकीय ज्योति से, तेज से पीड़ा देने वालों को दूर कर दो और चुम्बकरूप मुख की ज्वाला से बुद्धिशून्य मूढ़ जो मांस भक्षक हैं उनको धर्षित कर हटा दो।

उपर्युक्त मन्त्रों में आये **'अयोदंष्ट्रान्'** आदि पद मरुतों के चुम्बकीय गुणों के वाचक हैं। इन्हीं चुम्बकीय गतियों से, किरणों से दिशायें स्थिर हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में दिशाओं को लोहमयी बताया गया है—

दिशौ वै लोहमय्यः । शत०ब्रा० १३।२।१०।३ ॥
दिशौ वै अयस्मय्यः । तै०ब्रा० ३।९।६।५ ॥

मरुतों की जो चुम्बकीय गतियाँ हैं, तरङ्गे = Waves (वेव्स्) हैं, उन्हें छन्द कहा गया है—**यानि क्षुद्राणि छन्दांसि तानि मरुताम्** । ताण्ड्य ब्रा० १७।१।३ ॥ इस वचन में तरङ्गों को छन्द कहा है। मरुतों के छन्द = तरङ्गों अन्तरिक्ष से लेकर पृथिवी मण्डल के ऊपर और मध्य में अयस्मय = चुम्बकीय क्षेत्र का निर्माण करती हैं अतः वैद्युत वायु और अन्तरिक्षस्थ वायु की गति तिरछी हो जाती है। इसलिए ब्राह्मणकार ने कहा—**'तस्मात् अयं वायुः अस्मिन् अन्तरिक्षे तिर्यक् पवते'** जै०ब्रा० ३।३१० ॥ इन्हीं मरुतों के **अयोदंष्ट्र = चुम्बकीय तरङ्गों के** कारण ही पृथिवी में भी चुम्बकीय तत्व आते हैं और पृथिवीस्थ अयः अंश अयस्मयी सूचियों = कीलों का रूप धारण करते हैं, मन्त्र है—

रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहतम् ।
द्रुणा सधस्थमासदत् ।। ऋ० ९।१।२ ॥

पदार्थ—**रक्षोहा** = शत्रुहन्त्री, **विश्वचर्षणिः** = सम्पूर्णता से देखने वाली विद्युत् (**विश्वचर्षणिः पश्यति नामसु पठितम्** निघ० ३।११), तुम्हारे जो, **अभि** = चारों ओर से, **योनिम्** = गर्भ, **अयोहतम्** = लोह से युक्त है, वह **द्रुणा** = पृथिवी के, **सधस्थम्** = सहस्थान में, **असदत्** = बैठती है।

भावार्थ—सबको देखने वाली, कृमि नाशक जिसकी योनि = गर्भ, **अयोहत** = लौह को प्राप्त है अर्थात् जिसका निवास लोह में है, वह विद्युत् = चुम्बक पृथिवी के चुम्बकीय सामीप्य को पाती है।

इस प्रकार मन्त्रों के दर्शन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ वेदों में मरुतों की नाना प्रकार की विद्युत् किरणों का उल्लेख है वहीं विद्युत् चुम्बकीय किरणों का भी स्पष्ट वर्णन है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि मरुत् विद्युत् से सम्बन्धित हैं, यानि वे विद्युत् रूप हैं यह मन्त्रों से सुस्पष्ट है। विद्युत् रूप मरुतों के अशनि, तारा, धिष्ण्या, उल्का, तडित्, स्तनयित्नु आदि विविध रूप हैं, उनमें एक अयोरूप भी है जिसे लौकिक भाषा में चुम्बक कहा जाता है। इस प्रकार विद्युत् एवं चुम्बक एक ही वस्तु हैं भिन्न-भिन्न नहीं। इस विषय में डॉ० बार्नेट्ट लिखते हैं—

A current of electricity is always surrounded by a magnetic field and conversely that under certain conditions magnetic forces can induce electrical currents from there experiments came the discovery of the electromagnetic field through which light waves, radio wause and all other electromagnetic disturbances are propagated in space. Thus electricity and magnetism may be considered as a single force.

The Universe and Dr. Einstein. P. 15.

एक विद्युत् धारा के चारों ओर हमेशा एक चुम्बकीय क्षेत्र होता है, और ठीक इसी तरह एक खास स्थिति में चुम्बकीय बल विद्युत् की उत्पत्ति कर सकता है। इन प्रयोगों से विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र का आविष्कार हुआ। प्रकाश धारा, रेडियो धारा ये सभी विद्युत् चुम्बकीय धारायें हैं। ये धारायें माध्यम रहित क्षेत्र से भी प्रवाहित हो सकती हैं। **इसी कारण विद्युतीय और चुम्बकीय बल को एक माना जा सकता है।**

ऋषिवर दयानन्द को वेदों में सन्निहित विज्ञान की पराकाष्ठा का अच्छी तरह ज्ञान था। वेदों की इस विज्ञानमयता के आधार पर ही आर्यसमाज के दस नियमों

में महर्षि ने **'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'** यह वाक्य रखा। महर्षि ने साधना लभ्य अपने इस वाक्य की स्पष्टता **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सृष्टिविद्याविषय[१], पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः[२], 'आकर्षणानुकर्षणविषयः'[२], 'प्रकाश्यप्रकाशनविषयः'[२], 'नौविमानादिविद्याविषयः'[२], 'तारविद्यामूलविषयः'[२], 'वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशविषयः'[३], 'पुनर्जन्मविषयः'[४]**, प्रकरण लिखकर कर दी है। जो रसायन विज्ञान, भौतिक शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, प्राणी शास्त्र के ज्ञान के तथ्यों को प्रकाशित करते हैं। जिसे समझने के लिए, जानने के लिए संस्कृताध्ययन की परम आवश्यकता है। हमारे वेद विहित वैज्ञानिक तथ्यों को आधुनिक वैज्ञानिकों ने नये-नये नाम देकर हमें दिग्भ्रमित कर दिया है। वेदोक्त चुम्बक विज्ञान को Magnet (मैगनेट) नाम से बताया जाता है। जिसे पहचानने में भी हम असमर्थ हो जाते हैं। **'अयोदंष्ट्र'** आदि शब्द कितने सरल तथा स्पष्ट हैं चुम्बक अर्थ को बताने में।

यदि महर्षि का वाक्य आधुनिक विज्ञान वेत्ताओं के विज्ञान से परखा जायेगा अर्थात् हमारे किये श्रम को, ज्ञान को आधुनिक वैज्ञानिक स्वीकार कर लेंगे तब यह माना जायेगा कि **'वेद विज्ञान के स्रोत हैं'**, तब तो वेदविदों के लिए चुल्लू भर पानी में डूब मरने की स्थिति होगी। **'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'** महर्षि के इस वाक्य की यथार्थता का मानक आधुनिक विज्ञान वेत्ताओं की स्वीकारता न होगी, अपितु शतपथ आदि आर्ष ग्रन्थ और बार्हस्पत्य ज्योतिष संहिता, हारीत आदि ऋषियों के ग्रन्थ होंगे।

हमारे मस्तिष्कों में आधुनिक विज्ञान का हौआ इस कदर छाया हुआ है कि जिसके फेर में हम वेदों के प्रति आस्थावान् होते हुए भी दिग्भ्रमित हो, प्रायः यह प्रश्न कर बैठते हैं कि 'वेद में विज्ञान है या नहीं'। हमें पता होना चाहिए हमारा यह प्रश्न हमारी नास्तिकता का द्योतक है, साथ ही परमात्मा के ज्ञान में सन्देह एवं उसके ज्ञान की न्यूनता को प्रकट करता है अर्थात् हम परमेश्वर की सर्वविद्यामयता को धूमिल कर देते हैं। अतः **'वेद में विज्ञान है या नहीं'** इस शंका को स्थान नहीं देना चाहिए। हाँ ! हमारा विचार, हमारा कथन, इस प्रकार

---

१. रसायन शास्त्र की शिक्षा का संकेत।
२. भौतिक शास्त्र की शिक्षा का संकेत।
३. वनस्पति शास्त्र की शिक्षा का संकेत।
४. प्राणी शास्त्र की शिक्षा का संकेत।

होना चाहिए कि वेद ज्ञान जो ऋषि-मुनियों को हस्तामलकवत् था उसका विस्तार करना चाहिए, विज्ञान की वास्तविकता को आगे लाना चाहिए। वेद मन्त्रों पर आस्था रखकर उसको अपने जीवन में चरितार्थ कर देखना चाहिए।

आधुनिक विज्ञान हमारा मानक क्यों होगा ? वह तो स्वतः अधूरा है केवल नवीन-नवीन वस्तुओं के निर्माण में, उपकरणों में दौड़ लगा रहा है। मूल तत्वों को न मानता है, न जानता है। उनके विकार रूप को महत्व देना ही आधुनिक विज्ञान है। एक उदाहरण रूप में देखें—वेद में **'आपो विश्वस्य भेषजीः'** (अथर्व० ३।७।५) कहा गया है, अर्थात् **आपः = जल** विश्वभर की ओषधि है। आधुनिक विज्ञान कभी भी यह मानने को तैयार नहीं होगा कि चोट आदि लगने पर या कुत्ता, बन्दर आदि के काटने पर टिटनस = धनुर्वात के रोक के लिए यह सर्वत्र प्राप्त जल समर्थ है, पर चरितार्थ में वेद का वाक्य अक्षरशः सत्य है इसमें दो राय नहीं।

हम आज विज्ञान की उपादेयता रूपी हौआ के कारण वेदों के प्रति अनास्थावान् हो चुके हैं। हम आस्थावान् बनें, प्रश्न या सन्देह की अपेक्षा **अपनी सन्तानों को जीविकोपार्जन का ध्येय न रखकर, संस्कृताध्ययन अनिवार्य रूप से करायें[1], संस्कृत एक विद्या है मात्र भाषा ही नहीं ऐसा उन्हें समझायें और वेदों से ज्ञान प्राप्त कर यथोचित आविष्कार करें। परमात्मा तथा वेदों को विज्ञान का मूल समझें, तभी हम विज्ञान की गहराई को समझ सकेंगे।**



१. जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने कहा—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ॥ महाभा० नवाह्निक ॥

सोमतुल्य सुरा एवं भ्रान्त दृष्टि

पृथिवी पर बहुत सी ऐसी चीजें हैं जिनका नाम पढ़ते-सुनते ही हर्ष, उल्लास, स्फूर्ति के भाव मानस पटल पर आने लगते हैं, उनमें एक **'सोम'** भी है। सोम का नाम समक्ष आते ही अद्भुत शीतलता, अपूर्व शान्ति, सौम्यता की अनुभूति होती है, किन्तु कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिनका नाम स्मरण होते ही घृणा, वितृष्णा, लज्जा के भाव उभरने लगते हैं उनमें सुरा भी है। सुरा नाम सुनते ही सर्वनाशकारी हेय वस्तु की विकराल स्थिति समक्ष खड़ी हो जाती है। आज सुरा के द्वारा समाज की जो स्थिति बन रही है वह हम सबसे छिपी नहीं है। सुरा के इसी बीभत्स ताण्डव को देखकर विचारशील मानव के मन में एक प्रश्न सर्वदा कुरेदता है कि आखिर इस भयङ्कर पेय का क्यों उत्पादन किया गया ? जब हम इस प्रश्न का समाधान खोजते हैं तो पता लगता है कि इस महामारी स्वरूप सुरा को तो परमात्मा ने ही हमें दिया है। पुनः विचार उठता है कि उस परमात्मा ने अपने इन अमृत पुत्रों के लिए इस बीमारी को क्यों दिया ? तो ये सभी प्रश्न पर्याप्त पर्येषणा के विषय बनते हैं।

निरुक्तकार महर्षि यास्क ने **सुरा** शब्द का निरूपण **'सुरा सुनोतेः निरु० १।१०' षुञ् अभिषवे धातु से किया है,** तात्पर्य हुआ जो भी वस्तु निचोड़ कर उपलब्ध हो वह सुरा है। वैदिक कोष **निघण्टु १।१२ में सुरा शब्द जल के १०१ नामों में पठित प्राप्त होता है।** गोपथ तथा अथर्ववेद भाष्यकार पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी ने **सुरा शब्द** की निष्पत्ति **'षु प्रसवैश्वर्ययोः', 'षुञ् अभिषवे'** तथा **'षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः'** (षु+क्रन्+टाप्, षुर्+क+टाप्=सुरा) धातुओं से एवं **सुर** शब्द से **'सुराणां शक्तिः'** सुरा की है।

महर्षि दयानन्द ने **'सुरा'** शब्द को सोम शब्द के पर्याय के रूप में, सोम निष्पादन की क्रिया के रूप में, कहीं उदक पर्याय के रूप में, तो कहीं अन्य भेषज आदि के करण के रूप में, कहीं सोम के विशेषण रूप में अर्थात् **'महर्षि ने बल, वर्चस् के उत्पादक सोम के सदृश ही सुरा को भी उत्तम पदार्थ माना है, घृणित, हेय रूप में नहीं।**

वेदों में सुरा शब्द लगभग ३४ बार आया है। परमर्षि दयानन्द ने वेदमन्त्रों में आये सुरा शब्द के जो अर्थ किये हैं, उन्हें पढ़कर मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है। महर्षि ने अपनी अलौकिक मेधा से सुरा के गूढ़तम रहस्यों का उद्‌घाटन किया है। महर्षि के उन अद्भुत अर्थों को उनके शब्दों में ही देखें—

सोम पर्याय—

तिस्रो रात्रीः सुरा सुता० । यजु० १९।१४ ॥

सुरा = सोमरसः ।।

सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एष मा मा हिंसीः ।।

यजु० १९।७ ॥

सुरा = सोमवल्यादिलता, अत्र षुञ्-अभिषवे इत्यस्मात् धातोः औणादिको रप्रत्ययः, त्वं शुष्मिणी = बहु शुष्म बलं यस्यास्ति सा, सोमः = महौषधिगणः, मा मा हिंसीः = मा मां हिंस्याः ॥

सुराकारं भद्राय गृहपं श्रेयसे० ।। यजु० ३०।११ ॥

सुराकारं = सोमनिष्पादकम्, भद्राय = कल्याणाय, गृहपम् = गृहाणां रक्षकम्, श्रेयसे = धर्मार्थकामप्राप्तये ।

पयसा शुक्रममृतं जनित्रं सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः ।।

यजु० १९।८४ ॥

पयसा = जलेन दुग्धेन वा, शुक्रम् = शुद्धम्, अमृतम् = अल्पमृत्युरोग-निवारकम्, जनित्रम् = अपत्यजन्मनिमित्तम्, **सुरया = सोमलतादिरसेन,** मूत्रात् = मूत्राधारेन्द्रियात्; जनयन्त रेतः = उत्पादयेयुः वीर्यम् ।

सुरा को यहाँ मृत्युनिवारक और **वीर्यजनक अर्थात् सन्तानोत्पत्ति का निमित्त बताया है ।**

कुम्भी सुराधानी० ।। यजु० १९।१६ ॥

सुराधानी = सुरा सोमरसो धीयते यस्यां सा गर्गरी, कुम्भी = धान्यादि-पदार्थाऽऽधारा ।

सुरावन्तं बर्हिषदं सुवीरं यज्ञम्० ।। यजु० १९।३२ ॥

सुरावन्तम् = सुराः प्रशस्ताः सोमा विद्यन्ते यस्मिन्, तं (यज्ञम्) ॥

सुरायै बभ्रवै मदे० ।। यजु० २०।२८ ॥

सुरायै = सोमाय, बभ्र्वै = बलधारकाय (बिभर्त्ति सर्वमिति बभ्रुः) मदे = आनन्दाय ॥

सोम विशेषण—

सुत्राम्णे सुरासोमान् ।। यजु० २१।५९ ॥

सुत्राम्णे = सुष्ठुरक्षकाय, सुरासोमान् = सुरया रसेन युक्तान् सोमान् पदार्थान् ।

सुत्रामा सुरासोमान् ।। यजु० २१।६० ॥

सुत्रामा = सुष्ठुरक्षकः, सुरासोमान् = सुरया अभिषवेन सूयन्ते तान् (उत्तमान् रसान् इति भावार्थे) ॥

सोमनिष्पादन का करण—

यस्ते रसः सम्भृत ओषधीषु सोमस्य शुष्मः
सुरया सुतस्य ।। यजु० १९।३३ ॥

यः ते = तव, रसः = आनन्दः, सम्भृतः = सम्यग् धृतः, ओषधीषु = सोमलतादिषु, सोमस्य = अंशुमदादिसंज्ञस्य चतुर्विंशतिधा भिद्यमानस्य, शुष्मः = शुष्मं बलं विद्यते यस्मिन् सः, **सुरया = शोभनदानशीलया स्त्रिया,** सुतस्य = निष्पादितस्य ।

सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय ।। यजु० १९।५ ॥

सुरया = या सूयते सा सुरा तया ('क्रिया से' इति पदार्थे), सोमः = ओषधिरसः, सुतः = सम्पादितः, आसुतः = समन्तात् रोगनिवारणे सेवितः, मदाय = हर्षाय ॥

रस पर्याय—

कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः ।। ऋ० १।११६।७ ॥

कुम्भान् असिञ्चतम् = सिञ्चतम्, **सुरायाः = अभिषुतस्य रसस्य ।**

उदक पर्याय—

सुरया भेषजम्० ।। यजु० २१।३१ ॥

सुरया = उदकेन, (सुरा इति उदक नाम, निघ० १।१२), भेषजम् = औषधम्, यक्षत् = यजेत् (संगत करे) ।

सुरया भेषजं श्रिया न मासरं पयः सोमः
परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ।।

यजु० २१।३८ ।।

सुरया = जलेन, भेषजम् = औषधम् ।

उपर्युक्त मन्त्र में मासर = पके हुए अन्न, पयः = रस, सोम = ऐश्वर्य, घृत = घी, मधु = शहद आदि को पुरुषार्थ द्वारा प्राप्तव्य बताया है। उन **प्राप्तव्यों में सुरा = जल से युक्त औषध को भी बताया गया है ।**

निष्पादन क्रिया का पर्याय—

सुरावतो गृहे० ।। ऋ० १।१९१।१० ।।

सुरावतः = सवं कुर्वतः, गृहे ।।

उपर्युक्त मन्त्रों में आये **सुरा शब्द** का महर्षि दयानन्द ने लोक प्रचलित **'शराब'** शब्द से जानी जाने वाली त्याज्य वस्तु अर्थ न करके अपूर्व अर्थ प्रदर्शित किया है जो वेदविदों के लिए भी एक बार को ठिठका देने वाला है, पर है यथार्थ। महर्षि दयानन्द साक्षात्कृतधर्मा पुरुष थे। उन्होंने सुरा शब्द का वाच्य एक विशिष्ट उत्तम पदार्थ माना है यह उनके भाष्य से स्पष्ट है।

अथर्ववेद में भी सुरा शब्द उत्तम पदार्थ के रूप में ही आया है।

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम् ।
यद् गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम् ।।

अथर्व० १४।१।३५ ।।

भावार्थ—यत् = जो, वर्चः = तेज, अक्षेषु = व्यापकता में, उत्तम व्यवहारों में (अक्षू व्याप्तौ), च = और, यत् = जो, **सुरायाम् = ऐश्वर्य, उत्पत्ति आदि में (षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः)**, आहितम् = स्थित है। यत् = जो, गोषु = गौओं में, गतिशीलों में, अश्विनौ = सूर्य, चाँद आदि युगल पदार्थों में, वर्चः = तेज (है), तेन वर्चसा = उस तेज से, आवतम् = रक्षित करो।

मन्त्र में परमात्मा से वर्चः = तेज से रक्षा की प्रार्थना की गई है, और वह वर्चस् = कई प्रकार का है, **उसमें सुरा = ऐश्वर्य आदि का तेज भी गिनाया गया है ।**

यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु।
सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि।।

अथर्व० ९।१।१८॥

यद् = जो, गिरिषु = उपदेष्टाओं में, पर्वतेषु = पूरित करने वाले जन एवं मेघ आदि में, गोषु अश्वेषु = गौ, अश्वादि में, यन्मधु = जो ज्ञान **(मन्यते बुद्ध्यते यत् येन वा तत् मधु)**, तथा सिच्यमानायां सुरायाम् = प्रवहमान बढ़ते हुए ऐश्वर्य में, उदक में, यन्मधु = जो ज्ञान है, तन्मयि = वह मुझे प्राप्त हो।

मन्त्र में जहाँ गिरि आदि पदार्थों के ज्ञान प्राप्ति की कामना की गई है, वहीं **सुरा = ऐश्वर्य आदि उत्तम पदार्थों के ज्ञान की भी याचना की गई है।**

अथर्ववेद के मन्त्रों से भी सुस्पष्ट हुआ कि **सुरा उस पदार्थ का नाम है जो वर्चस् = बल, वीर्य, रस आदि को देने वाला है।** विस्तारभिया यहाँ पर कुछ मन्त्रों का ही दिग्दर्शन है। जब सुरा का अर्थ बलकारी द्रव्य मानेंगे तभी—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते।।

ऋ० ८।२।१२॥

इस मन्त्र से **उत्तम पदार्थ खाने से अपराजेय बल प्राप्ति होती है** यह तात्पर्य निकाला जा सकता है, अन्यथा मन्त्र में आये **'सुरा' शब्दका शराब अर्थ करने पर नहीं।**

मन्त्रार्थः—**दुर्मदासः न** = दुर्मद अभिमान में पड़ा व्यक्ति जैसे अव्यवस्थित-क्रिय या निष्क्रिय होता है और हार जाता है, वैसे जो, **सुरायाम् = सोमादि उत्तम पदार्थों को, हृत्सु पीतासः** = जी भरकर पीने वाले हैं वे, **युध्यन्ते** = युद्ध करने में सक्षम रहते हैं अर्थात् उस दुष्क्रिय को हरा देते हैं, और **ऊधर्न** = ऊधस् के समान, **नग्नाः** = ब्रह्मचर्य से परिपूरित, **जरन्ते** = पूजित होते हैं।

मन्त्र में बताया गया है कि जैसे दुर्मद = अभिमानी की दुष्क्रियता उसे हरा देती है, वैसे उत्तम पदार्थ सेवन करने वालों को उत्तम पदार्थ सब ओर से सफलता प्राप्त कराते हैं।

तात्पर्य हुआ वेद विहित सुरा शब्द रस, उदक, सोमलता या सोम निचोड़ने की क्रिया विशेष, अथवा सोम को निचोड़ने वाली स्त्री आदि का वाचक है, **अर्थात् स्थूल शब्दों में सोम शब्द का सुरा पर्याय शब्द है।**

इस प्रकार वेद मन्त्रों के आधार पर निःसंकोच कहा जा सकता है कि सुरा सेवनीय उत्तम पदार्थ है जो उदक, ओषधि, सोमलता आदि प्रकार नाम वाला है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि **जिस प्रकार वेद में द्यूतक्रीडा, मांस भक्षण, हिंसा आदि कार्य वर्ज्य बताये गये हैं और उनके साथ निषेधात्मक शब्द लगे हुए हैं, वैसे जहाँ कहीं पर भी वेदों में सुरा शब्द आया है उसके साथ कोई भी निषेधात्मक शब्द नहीं है जिससे सुरा को त्याज्य माना जा सके।**

महर्षि दयानन्द ने सुरा शब्द के ओषधि, सोमरस, उदक आदि अर्थ करके जिन रहस्यों की ओर संकेत किया है उन रहस्यों का विस्तृत वर्णन वेदों के व्याख्यानभूत ब्राह्मण ग्रन्थ, मैत्रायणी संहिता आदि में उपलब्ध होता है, बस आवश्यकता है समझने और परखने की।

मैत्रायणी संहिता में सुरा, सोम आदि के गम्भीरतम तात्पर्य कीं आलङ्कारिक बड़ा मनोहारी वर्णन है—

विश्वरूपो वै त्वाष्ट्र आसीत् त्रिशीर्षा सुराणां स्वस्त्रीयः स सोममेकेन शीर्ष्णापिबत् सुरामेकेनाऽन्नमेकेनावयत्, स इन्द्रोऽमन्यताऽयं वावेदं भविष्यतीति, तेन समलभत, तेन युगशरमपतत्, स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवी, दाधावे, मान्यस्य शीर्षाणि छिन्द्धीति, तस्य तक्षोपस्कद्य परशुना शीर्षाण्यछिनत्, तस्मात्तक्ष्णे शिरोधृतं तस्मादस्यान्नमन्नाद्यं, तस्य यत् सोमपं शिरा आसीत् स कपिञ्जलोऽभवद् यत् सुरापं स कलविङ्को, येनान्नमावयत्स तित्तिरिः।

मै०सं० २।४।१।। सम्पूर्ण प्रकरण।

संहिता के इस स्थल में प्रारंभिक मेघ निर्माण से लेकर बरसने तक के बृहत्तम विज्ञान का व्याख्यान किया गया है जो व्यक्त्याकृति से वर्णित है—

विश्वरूप[१] तीन सिर वाला सुरों का भाञ्जा त्वाष्ट्र = त्वष्टा का पुत्र था। उसने एक सिर से सोम को पिया, एक से सुरा को और एक से अन्न को फेंका। उस इन्द्र ने विचार किया, यह इस प्रकार का होगा, वह उससे स्पृष्ट हुआ। उससे एक शर गिरा। वह काटने वाले को खड़ा देखकर बोला, दौड़ो इसके सिर को काट दो, इस प्रकार काटने वाले परशु से सिर काट दिये, उससे काटने वाले में सिर स्थित हुआ। उसका जो सोमपा सिर था वह कपिञ्जल हो गया, जो सुरापा सिर था वह कलविङ्क हो गया, जिससे अन्न फेंका वह तित्तिरि हो गया।

१. तुलना - जैमिनी०ब्रा० २।१५४।।, तै०सं० २।५।१।।, शत०ब्रा० १।६।३।१ व ५।६।४।१-६।।

इस कथानक के त्वष्टा, विश्वरूप त्वाष्ट्र, इन्द्र, सोमपासिर, सुरापासिर, अन्नसिर गवेषणीय शब्द हैं। जिनका विशिष्टार्थ इस प्रकरण से ही सुस्पष्ट हो जाता है।

त्वष्टा—

वायु से आवेष्टित अन्तरिक्षस्थ वैद्युत् अग्नि त्वष्टा है।

त्वाष्ट्र—

विद्युत् रहित वायु त्वाष्ट्र है जो सर्वत्र व्याप्त है। तथा जल कणों को अपने में समेटे हुए है।

इन्द्र—

सौर अग्नि इन्द्र है।

सोमपादिसिर-सोम—

सोम, सुरा आदि जलों के तीन प्रकार हैं। सोम बहने वाला जल है जो सूर्य लोक तक पहुँचता है॥

सुरा—

सुरा वे गहरे सघन जल हैं जो विभिन्न विद्युतों के जनक तथा मेघ बनते हैं।

अन्न—

अन्न[1] नामक वे जल हैं जो झुके भारी, वैद्युत् अग्नि रहित हैं तथा पृथिवी पर बरसते हैं।

इन तीनों जलों का सेवन कर्ता सुरापा आदि सिरों वाला कहा जाता है। वायु जब वैद्युत अग्नि से युक्त था तब तक तीनों जल उसमें ही थे। वायु के वैद्युत अग्नि रहित होने पर अग्निकण = वाष्पकण, जल कैसे बनें ? कपिञ्जल, कलविङ्क आदि पशुरूप कैसे हुए ? यह पृथक् विवेच्य विषय है।

इस प्रकार ज्ञात हुआ कि **सुरा नामक जल गम्भीरतम रूप वाले हैं** अतः शास्त्रों में **अनृत[2], पाप्मा, तमः आदि शब्द प्रयोग किये गये हैं और** सोम के लिए **सत्य, श्री, ज्योतिः शब्द प्रयुक्त किये हैं। वस्तुतः अनृतादि नाम सुरा पदार्थ की गहनता, गम्भीरता एवं विविध कर्म के द्योतक हैं।**

---

१. अन्नं वृष्टिः। गो०ब्रा० १।४।४,५॥

२. सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमो, अनृतं पाप्मा तमः सुरा। शत०ब्रा० ५।१।२।१०॥

लोक में तमः = अन्धकार को, अनृत = झूठ को और पाप्मा = पाप को कहा जाता है, लेकिन वेदादि ग्रन्थों में प्रयुक्त **'सुरा'** शब्द के साथ लोकप्रचलित **तमः आदि** शब्दों का जो अर्थ है वह न होकर विशिष्ट अर्थ ही संगत होगा। ये तमसादि शब्द भी विशिष्ट अर्थ वाले हैं—

कृष्णं वै तमः । शत०ब्रा० ५।३।२।२ ॥

पाप्मा वै तमः । तै०सं० ५।१।८।६ ॥

एतत् वै पाप्मनो रूपं यद् कृष्णम् । मै०सं० २।५।६ ॥

यत्तद् कृष्णं तद् अपां रूपमन्नस्य मनसो यजुषः । जै०ब्रा० १।८।१।९ ॥

पाप्मा वै वृत्रः । शत०ब्रा० ११।१।५।७ ॥

एतद् यद् वर्षति अनृतं यदा तपति वर्षति । तै०ब्रा० १।७।५।३ ॥

उपर्युक्त वचनों से सुस्पष्ट हुआ कि **गहनतम जलों का कृष्णरूप होने से वे कृष्ण कहलाये** तथा तमः सादृश्य से ही **पाप्मा कहलाये** क्योंकि पाप भी कृष्णरूप कहा जाता है। ये **गहनतम जल बरसने से पूर्व ग्रीष्मता देने से और बरसने के बाद शीतलता प्रदान करने से दो रूप वाले होने के कारण झूठ के सदृश ही हैं।** जहाँ द्वैध भाव होता है वह अनृत कहाता है। जलों के इस रहस्य को समझाने के लिए श्रौतादि ग्रन्थों में सौत्रामणी इष्टि द्वारा नाटकीय ढंग अपनाया गया है जिसमें **सुरा[1] = विशिष्ट** द्रव्यों के चूर्ण से बने उत्तम पेय की आहुति दी जाती है।

इस सौत्रामणी इष्टि के प्रकरण में जो सुरा है वह कोई ऐसी वैसी हेय उपेक्षित वस्तु नहीं है अपितु विशिष्ट अन्नों से, विशिष्ट तरीकों से, दुग्धादि के सम्मिश्रण से उत्पादित रस है जो सृजन शक्ति को बढ़ाता है, उत्पत्ति करता है। इस पेय द्वारा अन्तरिक्षस्थ सुरा के उत्पादन रहस्य को प्रतिपादित किया गया है।

जिस प्रकार यह सुरा पेय विभिन्न द्रव्यों से निर्मित है, वैसे ही **सुरा नामक जल भी अग्नि, विद्युत, वायु तथा आपों का एक समुदाय विशिष्ट है**

---

१. सुरा निर्माण के विशिष्ट द्रव्य—**शष्प** = अङ्कुरित धान, **तोक्म** = अङ्कुरित जौ, लाजा, **नग्नहु** = त्रिफला आदि ओषधियाँ तथा **भासर** आदि ॥

कात्या० श्रौतसूत्र १४।१।१५ तथा १९।१।१८ में द्रष्टव्य हैं।

जिससे ही सोमरूप जल पृथक् होकर आदित्य तक पहुँचता है और पृथिवी पर अन्नरूप में बरसकर सभी वनस्पति आदि का जनक बनता है अर्थात् सुरा और सोम नाम से विभाजित जल ही अन्नरूप[1] में पृथिवीस्थ वनस्पतियों तथा जीव-जन्तुओं का प्राणाधार है, वे दोनों जोड़े हैं, पृथक् नाम वाले होते हुए भी युगल हैं। इनके इसी जनकत्व भाव को तै०ब्रा० १।३।३।४ ॥ में **'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा'** इन शब्दों से प्रकट किया गया है। ये भिन्न पदार्थ नहीं है जैसे पुरुष और स्त्री दोनों उत्पत्ति के आधार हैं वैसे वनस्पति आदि के जनक ये सुरा और सोम दोनों है। तात्पर्य हुआ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में वर्णित सुरा आदि पदार्थ अन्तरिक्षीय द्यौलोकीय जलों के गम्भीरतम कार्यों के द्योतक हैं।

कुछ विद्वद्प्रवर **'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा'** इस वाक्य का अर्थ करते समय उसके अगले वाक्य को छोड़कर अर्थ करते हैं वह महती भूल है। अगला वाक्य है **'तन्मिथुनं मिथुनमेवास्य तद् यज्ञे करोति प्रजननाय'** अर्थात् सोम और सुरा मिथुन हैं, जोड़ा हैं, अतः यज्ञ में प्रजनन के लिए अर्थात् जनन प्रक्रिया को दर्शाने के लिए इस जोड़े को करता है, सुरा-सोम की आहुति देता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन से ज्ञात होता है कि वेदों में सुरा को कहीं पर भी त्याज्य नहीं माना गया है और वेद के व्याख्यान ब्राह्मणादि ग्रन्थों में जहाँ सुरा को त्याज्य माना है वह ब्राह्मण के लिए वर्जित है राजन्य के लिए नहीं। यह त्याज्य भेद भी ध्यातव्य विषय है। पहले तो ब्राह्मण राजन्यादि को ही समझें। ब्राह्मण आदित्य को कहा जाता है, और राजन्य पर्जन्य को—

असौ खलु वा वैष आदित्यो यद् ब्राह्मणः ।

तै० आ० २।१३।१ ॥

वृषा वै राजन्यः । ता० ६।१०।९ ॥

वृषा पर्जन्यः । मै०सं० २।४।८ ॥

---

१. (१) इस रहस्य को बताने वाले ही **'अन्नं वै सुरा'** मै० सं० २।३।९, (२) **'अन्नं सुरा'** तै०ब्रा० १।३।३।५ अर्थात् वृष्टि सुरा है, (३) **'यन्माल्व्यं सुरा वै सा'** मै०सं० २।३।२ अर्थात् मालु = ओषधि (अमर०व्या०१।८।६) ओषधियों के लिए जो हितकर है वह सुरा है। अन्नस्य वा एतत् च्छमलं, यत् सुरा, तै०ब्रा० १।३।३।६, वृष्टि का शमन करने वाली सुरा है (शम् + कलच्) **'अन्नस्य मलं सुरा'**=वृष्टि को धारण करने वाली (मल धारणे) सुरा है, इत्यादि वाक्य हैं।

इन वाक्यों से भली प्रकार स्पष्ट हुआ कि मेघों का स्थान अन्तरिक्ष है सूर्य नहीं। तो जो सौत्रामणी इष्टि में ब्राह्मण के लिए सुरापान वर्जित किया गया है वह इसी रहस्य को समझाने के लिए ही है कि **सुरा नामक जल पर्जन्य में ही रहते हैं और सोम नामक जल आदित्य**[१] **तक पहुँचते हैं।**

वेद तथा वैदिक ग्रन्थों के विवेचन से यह भी पता चलता है कि वेदोक्त सुरा, लोक प्रचलित नशीला द्रव्य नहीं है अपितु **शुभ = कल्याण करने वाला पदार्थ है** जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है—

युवं सुरामाश्विनानमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती ।। तै०ब्रा० १।४।२।१ ।।

अर्थात् **हे अश्विओ !** तुम नमुचि नामक असुर के साथ **सुरा पीने से शुभ कर्मों के पालक हो।**

इस प्रकार वेद तथा वैदिक ग्रन्थों का और महर्षि के भाष्य का अनुगमन करते हुए वेदोक्त सुरा शब्द का अर्थ समझना चाहिए। लौकिक अर्थ करना **'सुरा' शब्द के साथ अन्याय होगा।** जो आधुनिक विद्वान् **'सुरा त्वमसि शुष्मिणी** यजु० १९।७' आदि मन्त्रों में आये सुरा शब्द का अर्थ—**'सुरा शोषण करने वाली है'** यह करते-लिखते हैं वे सम्भवत: वेद में वर्णित गम्भीरतम पदार्थों से नितान्त अनभिज्ञ हैं और वैदिक कोष निघण्टु से भी अपरिचित हैं। ऐसी स्थिति में मैं समझती हूँ कि वे विद्वान् **'अन्नपते०** यजु० ११।८३' मन्त्र में आये **'शुष्मिण:'** पद का **'शोषण करने वाला अन्न'** यह अर्थ न करने की भी भूल नहीं करेंगे।

अब रही बात लोक में प्रचलित सुरा नामक बोतलबन्द द्रव्य की, जिसका घर-घर में नि:संकोच सेवन हो रहा है। क्या वह भी सेव्य है ? तो उत्तर में उसके लिए शत-सहस्र मुख से यही कहा जायेगा कि वह असेव्य ही नहीं, वह अस्पृश्य, अदर्शनीय द्रव्य है, जैसा कि मनु महाराज ने भी कहा है—

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ।।

मनु० ११।९३ ।।

---

१. सोम एव अस्य (ब्राह्मणस्य) राजा भक्षितो भवति ।। शत०ब्रा० १२।८।१।५ ।।

अर्थात् सुरा अन्न का मल है और मल को पाप कहते हैं। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मदिरा को न पीवें।

इस प्रकार वेद विहित नाम को ओढ़ने मात्र से ही कोई भी वस्तु ग्राह्य नहीं हो सकती। यह लोक प्रचलित सुरा = शराब तेजाब युक्त गन्दा पानी है जिसका सेवन मृत्युरूप है। जो सभी को, सभी कालों में सर्वथा उपेक्ष्य है, निन्द्य है, समाज से बहिष्करणीय है, और जो चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों में महुआ आदि पदार्थों से निष्पादित द्रव्य का विधान है, जिसका सौत्रामणी इष्टि में प्रयुक्त पेय के निष्पादन सादृश्य के कारण **सुरासव नाम** दिया गया है, वे आसव भी कुशल वैद्यों के कथनानुसार ही सेव्य हैं अन्यथा वे भी मृत्यु[१] के कारण हैं, यह तथ्य है॥



सच्चे सोमपायी वीर की वैदिक गर्जना एतादृश ही होगी-

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा।

कुवित् सोमस्यापामिति। ऋ०१०।११९।९॥

मैं इस पृथिवी को उठा कर इधर रख दूँ या उधर, क्योंकि मैंने सोम रस का छक कर पान कर लिया है मुझमें अपूर्व बल आ गया है।

---

१. यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद्येन पीयते।
रूक्षव्यायामनित्येन विषवद्याति तस्य तत्॥
मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्।
दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्। चरक चिकि० २४।२८,२९॥

वसिष्ठ, वसिष्ठ पुत्र का आधिदैविक स्वरूप

षडङ्गों में निरुक्त को वेदार्थ का श्रोत्र[1] कहा जाता है, श्रोत्र का कार्य प्रतिपाद्य विषय को विस्तृत करना होता है। निरुक्त ग्रन्थ नैघण्टुक, नैगम एवं दैवत काण्ड इन तीन विभागों में विभक्त है। निरुक्त का दैवत काण्ड मुख्यतया वेद के आधिदैविक पक्ष को स्पष्ट करता है। दैवत काण्ड में निघण्टु के पञ्चमाध्याय में संगृहीत **अग्निः, जातवेदाः** आदि १४८ शब्दों का निर्वचन किया गया है। निघण्टु के वे १४८ शब्द तीनों लोकों के सत्वों का = पदार्थों का बोध कराने वाले हैं। दैवत काण्ड में व्याख्यात उन शब्दों में वसिष्ठ शब्द की गणना नहीं है और न सम्पूर्ण निरुक्त में ही अन्य शब्दों की भाँति प्रधानरूपेण नामोल्लेख पूर्वक निर्वचन किया गया है। निरुक्त में यदि कहीं वसिष्ठ शब्द दृष्टिगोचर होता है तो वह अन्य शब्दों के व्याख्यान में उद्धृत मन्त्रों में होता है, या फिर किसी अन्य शब्द के निर्वचन में वसिष्ठ शब्द को उद्धृत कर, उस शब्द का निर्वचन जहाँ पूरा किया है, वहाँ होता है यथा—

'पराशर' शब्द की व्याख्या करते हुए यास्क ने ऋ०[2] ७।१८।२१ मन्त्र उद्धृत किया है, जिसमें वसिष्ठ शब्द है, तथा यहाँ जो यास्क ने पराशर का निर्वचन किया, उसे भी वसिष्ठ शब्द के द्वारा स्पष्ट किया—**"पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे"** ॥ निरु० ६।६।३१ ॥ वसिष्ठ का अर्थ यहाँ **वृद्ध = स्थविर है।**

'विपाट्' शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क ने लिखा—**'पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः तस्मात् विपाट् उच्यते'** निरु० ९।३।२० ॥ यहाँ प्रकरणानुसार वसिष्ठ का अर्थ टीकाकारों ने जीवात्मा किया है।

उर्वशी[3] के निर्वचन में यास्क ने ऋ० ७।३३।११ ॥ मन्त्र को उद्धृत किया है जिसमें **वसिष्ठ शब्द है,** यहाँ यास्क ने वसिष्ठ का कोई भी

---

१. निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ पा०शि० ४१।

२. प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः ॥ ऋ० ७।१८।२१।

३. निरु० ५।३।४७ ॥

निर्वचन नहीं किया है, स्कन्द, दुर्ग आदि टीकाकारों ने वसिष्ठ का अर्थ जल[1] किया है।

निरुक्त ९।१।६ ॥ में यास्क ने **"वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव, तं मण्डूका अन्वमोदन्त"** यह वाक्य उद्धृत किया है, पर वसिष्ठ का कोई अर्थ नहीं किया, यहाँ वसिष्ठ के विशेषण के रूप में 'वर्षकाम' शब्द आया है। जिसका टीकाकारों ने **श्रेष्ठ मनुष्य** या **वर्षा चाहने** वाला अर्थ किया है, किसी विशिष्ट अर्थ का दिग्दर्शन नहीं कराया।

इस प्रकार निरुक्त जो वेद के गूढ़ अर्थों का दिग्दर्शन कराता है उसमें वसिष्ठ शब्द का नामोल्लेख पूर्वक निर्वचन न होने से, वसिष्ठ के स्वरूप को जानने में थोड़ी कठिनता प्रतीत होती है, जबकि यह वसिष्ठ शब्द जिस आधिदैविक पदार्थ का वाचक है, वह पदार्थ उन महत्वशाली पदार्थों में से है, जिसके बिना सृष्टि के किसी भी कार्य का होना असम्भव है, अर्थात्—दैवी सृष्टि जिसे भौतिक सृष्टि भी कह सकते हैं, (क्योंकि भूतों से बनती है) वह नहीं बन सकती। ऐसे महनीय वसिष्ठ तत्व का ज्ञान साक्षात् वसिष्ठ शब्द से तो नहीं हो पाता, पर वसिष्ठ के जो सहचारी पदार्थ यथा **उर्वशी, मित्र, वरुण, पराशर** आदि हैं उनके ज्ञान के द्वारा सुगम हो जाता है, जिनका यास्क ने अपने निरुक्त में शब्दशः नाम लेकर निर्वचन किया है।

वेदों में वसिष्ठ शब्द विभिन्न विभक्तियों में ७१ बार आया है, ५४ बार तो केवल ऋग्वेद में ही है। वेदातिरिक्त वैदिक वाङ्मय में भी वसिष्ठ का बहुतायत से वर्णन है। वेदादि वाङ्मय में वर्णित इस वसिष्ठ की उत्पत्ति मित्रावरुण एवं उर्वशी से हुई है, इस प्रकार के अनेक कथानक आख्यायें प्राप्त होती हैं। शौनक ने बृहद्देवता[2] में वसिष्ठ की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार लिखा है—

अदिति के पुत्र मित्र वरुण का यज्ञ में अप्सरा उर्वशी को देखकर रेत चुआ, वह वासतीवर कुम्भ में गिरा, थोड़े ही क्षण में वे दोनों तपस्वी वीर्य

---

१. नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युत् वसिष्ठोऽप्याच्छादित उदकसंघातः ॥ स्कन्द, निरु०५।३।१४ ॥

२. तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम्।
रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतत् वासतीवरे ॥
तेनैव तु मुहुर्त्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी सम्बभूवतुः ॥
बहुधा पतिते शुक्रे कलशेऽथ जले स्थले।
स्थले वसिष्ठस्तु मुनिः सम्भूत ऋषिसत्तमः ॥

वाले बन गये, उससे अगस्त्य और वसिष्ठ ऋषि पैदा हुए। कलश, जल तथा स्थल आदि बहुत स्थानों में शुक्र के गिरने पर, ऋषित्व को प्राप्त वसिष्ठ मुनि स्थल में हुआ, कुम्भ में अगस्त्य उत्पन्न हुआ और महाद्युति मत्स्य जल में उत्पन्न हुआ। महान् यशस्वी शमी प्रमाण वाला अगस्त्य उसके बाद उदित हुआ, क्योंकि मान से सम्मित है, अतः उसे मान्य यहाँ कहा है। अथवा कुम्भ से ऋषि उत्पन्न हुआ क्योंकि कुम्भ से मापा जाता है, कुम्भ यह अभिधान परिमाण का जाना जाता है ततः गृह्यमाण अपों में, पुष्कर में वसिष्ठ स्थित हुआ, पुष्कर में सर्वत्र उस वसिष्ठ को ही सभी देवों ने धारण किया।

इसी प्रकार कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में लिखा—**मित्रावरुणयोर्दीक्षितयोरुर्वशीमप्सरसं दृष्ट्वा वासतीवरे कुम्भे रेतोऽपतत्, ततोऽगस्त्यवसिष्ठावजायेताम्**। ऋक्सर्वा० १६६।

महाभारत एवं पुराणों[1] में भी लगभग इसी प्रकार का वर्णन है।

उपर्युक्त कथानकों को देखकर प्रतीत होता है कि वसिष्ठ कोई देहधारी व्यक्ति है तथा मित्र वरुण और उर्वशी माता-पिता हैं, पर जब वसिष्ठ की उत्पत्ति के मूल स्रोत को वेद में परिलक्षित करते हैं, तो ज्ञात होता है कि ये मित्र, वरुण, उर्वशी तथा वसिष्ठ देहधारी पदार्थों से भिन्न कोई अन्य पदार्थ हैं, क्योंकि बृहद्देवता आदि में कही हुई वसिष्ठ की उत्पत्ति विषयक चर्चा का आधार ऋग्वेद के ७वें मण्डल का ३३वाँ सूक्त है, वैसे तो सम्पूर्ण अष्टम मण्डल ही किसी न किसी रूप में वसिष्ठ से सम्बन्धित है और सम्पूर्ण मण्डल का द्रष्टा भी मैत्रावरुणि वसिष्ठ है। उस वसिष्ठ की खोज से पूर्व सर्वप्रथम वसिष्ठ के उत्पादक **मित्र, वरुण और उर्वशी को** निरुक्त के निर्वचनों द्वारा ढूँढ़ते हैं कि वे कौन से तत्व हैं।

कुम्भे त्वगस्त्यः सम्भूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः।
उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महायशाः॥
मानेन सम्मितो यस्मात् तस्मात् मान्य इहोच्यते।
यद्वा कुम्भादृषिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते॥
कुम्भ इत्यभिधानं तु परिमाणस्य लक्ष्यते।
ततोऽप्सु गृह्यमाणासु वसिष्ठः पुष्करे स्थितः॥
सर्वत्र पुष्करं तत्र विश्वेदेवा अधारयन्॥

बृहद्देवता ५।१४९-१५५॥

१. मत्स्य पुराण ६१।३०-४०, २०१।१-३०, २०२।१-४० ॥

निरुक्त में मध्यमस्थानी देवताओं में मित्र शब्द व्याख्यात है, जिसका निर्वचन इस प्रकार है—**मित्रः प्रमीतेः त्रायते, सम्मिन्वानो द्रवतीति वा, मेदयतेर्वा** निरु० १०।२।१३, अर्थात् जो प्रमीति = हिंसा से **(मीङ् मीञ् हिंसायाम्)** विनाश से रक्षा करता है, अथवा जो **(मिवि सेचने)** सिंचन करता हुआ दौड़ता है, एवं जो स्निग्ध करता है, तर करता है **(ञिमिदा स्नेहने)** वह मित्र है।

तात्पर्य हुआ मित्र रक्षा करने वाला, जीवन देने वाला, सिञ्चन करने वाला और स्निग्ध करने वाला पदार्थ है, **जिसे विज्ञान की भाषा में हाइड्रोजन वायु कहते हैं।**

मध्यमस्थानी वरुण देवता का निर्वचन इस प्रकार है, **वरुणः वृणोतीति सतः** निरु० १०।१।२, अर्थात् जो आच्छादन करता है, उसे वरुण कहते हैं।

तात्पर्य हुआ आच्छादक तत्व का नाम वरुण है **विज्ञान की भाषा में जिसे ऑक्सीजन अर्थात् ओषजन वायु कहते हैं,** जिसके बिना किसी भी कार्य की स्थिति असम्भव है।

उर्वशी का निर्वचन यास्क ने इस प्रकार किया है—**उर्वशी अप्सरा, उर्वभ्यश्नुते, उरुभ्यामश्नुते उरुर्वावशो अस्याः** निरु० ५।३।४७, अर्थात् जो बहुत व्याप्त होती है, ऋणात्मक तथा धनात्मक इन दो शक्तियों से व्याप्त होती है अथवा बहुत सामर्थ्य वाली होती है।

तात्पर्य हुआ व्यापकत्व गुण वाले तत्व को उर्वशी कहते हैं, **वह तत्व विज्ञान की भाषा में विद्युत् है।**

अप्सरा का निर्वचन इस प्रकार किया—**अप्सरा अप्सारिणी,** निरु० ५।३।४७, अर्थात् जो जलों में **(अपः इति उदक नाम** निघ० १।१२) अथवा कर्मों में **(अपः इति कर्मनाम** निघ० २।१) गति करती है, वह अप्सरा है यानि विद्युत्, प्रकृति एवं स्त्री को अप्सरा कहा जायेगा।

अपि वा अप्स इति रूप नाम, अप्सातेः अप्सानीयं भवति, आदर्शनीयं, व्यापनीयं वा, स्पष्टं दर्शनाय इति शाकपूणिः, तद्रा भवति तद् अनया आत्तमिति वा, तद् अस्यै दत्तमिति वा निरु० ५।३।४७, अर्थात् अप्स रूप को कहते हैं, जो भक्षणीय नहीं होता, अपितु दर्शनीय होता है, व्याप्त होता है, पदार्थों को स्पष्ट दिखाने वाला होता है, उस रूप वाली को अप्सरा कहेंगे।

तात्पर्य हुआ अप्सरा उर्वशी = बहुत सामर्थ्य वाली विद्युत् कही जायेगी क्योंकि वह पदार्थों को दिखाने वाली होती है सर्वत्र व्याप्त हो जाती है, इसी गुण के कारण स्त्री को भी अप्सरा कहेंगे क्योंकि वह भी रूप वाली होती है, दर्शनीय होती है, कर्मों वाली होती है। **इस प्रकार उर्वशी अप्सरा सर्वत्र व्याप्त होने वाली विद्युत् है।**

यह विद्युत् मित्र, वरुण नामक वायुओं को मिलाकर जल की उत्पत्ति करती है, तात्पर्य हुआ कि **मित्र वरुण तथा उर्वशी अप्सरा वे पदार्थ हैं जो वृष्टि क्रिया के संवाहक हैं तथा समस्त सृष्टि के स्रोत हैं।**

वसिष्ठ तत्व मित्र वरुण और उर्वशी का संघातरूप है, जिससे दृश्य सृष्टि एवं दृश्य जल (वृष्टि द्वारा) हमारे सामने दृष्टिगोचर होता है। यानि वसिष्ठ वह तत्व है जो सबके अस्तित्व को बनाता है सबको बसाता है सबका आधार[१] है, प्राणरूप[२] है।

यास्कीय निर्वचनों के आधार पर मित्र, वरुण, उर्वशी तथा वसिष्ठ का जो तात्पर्य है उसे आधुनिक विज्ञान के ज्ञाता इस प्रकार से विवेचित करते हैं—

वसिष्ठ तत्व वरुण और मित्र का अंश है अर्थात् मित्र ऋणात्मक कण का समुच्चय है, और वह चार्ज वहन करता है, वरुण धनात्मक चार्ज्ड कणों को बनाने में अग्रगामी होता है, जिसे विज्ञान प्रोटान (स्वतन्त्र बिजली की अल्पमात्रा) कहता है यह धनात्मक चार्ज्ड कण वरुण का अंशभूत कण है। इसी प्रकार मित्र के अन्तर्गत आने वाले कण समूहों का इलेक्ट्रॉन = विद्युत् कण है जिसे ऋणात्मक कण कहा जाता है। इन मित्र और वरुण के अंशभूत कणों के संयोग से जो प्रथम न्यूट्रल = तटस्थ उदासीन कण बनता है उसी का नाम वसिष्ठ है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसी वसिष्ठ में स्थायित्व लाने के लिए एक और कण जुड़ता है जिसका नाम अगस्त्य है, जो मित्र वरुण का अंश नहीं है अपितु यह विद्युत् चार्ज से रहित कणों का समुदाय है।

तात्पर्य हुआ धनात्मक चार्ज्ड प्रोटान वरुण और ऋणात्मक चार्ज्ड इलेक्ट्रान मित्र के संयोग से तटस्थ कण न्यूट्रल = वसिष्ठ बनता है। इस न्यूट्रल में एण्टी इलेक्ट्रान न्यूट्रीनो = (विद्युत् चार्ज से रहित) पोषक तत्व भाग लेता है, जिसे अगस्त्य कहते हैं।

---

१. अथो यत् वस्तृतमो भवति तेन एव वसिष्ठः ॥ शत०ब्रा० ८।१।१।६ ॥
२. प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः ॥ शत०ब्रा० ८।१।१।६ ॥

इस न्यूट्रल वसिष्ठ की उत्पत्ति मित्र वरुण उर्वशी से किस प्रकार होती है इसका प्रकाश निम्न ऋचा में किया गया है—

विद्युतो ज्योतिः परिसंजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा ।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार ।।

ऋ० ७।३३।१० ।।

अर्थात् **विद्युतः ज्योतिः** = विद्युत् की ज्योति अर्थात् इलेक्ट्रिक चार्ज को, **परि** = चारों ओर से, **संजिहानम्** = भली प्रकार छोड़ अर्थात् उससे दूर रहते हुए, **मित्रावरुणौ** = मित्र और वरुण ने, **यत्** = जब, **त्वा अपश्यताम्** = तुझे देखा, **तत्** = वह वसिष्ठ, **ते** = तेरा एक, **जन्म** = जन्म है, **उत एकम्** = और दूसरा जन्म (तुम्हारा वह) है, **यत् त्वा** = जब तुझे, **अगस्त्यः** = अगस्त्य ने, **विशः** = प्रजा में, **आ जभार** = धारण किया है।

मन्त्र का तात्पर्य हुआ कि ऋणात्मक मित्र और धनात्मक वरुण के समान संयोग से वसिष्ठ की उत्पत्ति होती है। इन दोनों के देखने मात्र से अर्थात् **मित्र और वरुण के पास आते ही विद्युत् चार्ज परस्पर मिलकर तटस्थ के रूप में आता है वही वसिष्ठ है** और जब मित्र वरुण और न्यूट्रीनो नामक अगस्त्य तत्व मिल जाता है तब वसिष्ठ का द्वितीय जन्म कहा जाता है। न्यूट्रल तटस्थ वसिष्ठ कण में जब न्यूट्रीनो मिलता है तब उस मेल को ही वसिष्ठ का द्वितीय जन्म कहा जाता है। तात्पर्य हुआ **वसिष्ठ का स्थिररूप = स्थिरीकरण ही द्वितीय जन्म हुआ।**

दुर्गाचार्य ने वसिष्ठ के दो प्रकार के जन्मों को इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए पौराणिक आख्यान का उल्लेख कर इस प्रकार स्पष्ट किया है यथा—

रौद्रेण किल तेजसा निर्दग्धो वसिष्ठो मित्रपरिगृहीतायामुर्वश्यामुत्पन्नो वरुणतेजसो जात इति पुराणे श्रूयते। दुर्ग, निरु० ५।३।१४ ।।

अर्थात् रुद्र के तेज से जला हुआ वसिष्ठ मित्र से परिगृहीत उर्वशी में उत्पन्न होता हुआ, वरुण तेज वाला हो गया। दुर्ग के इस आख्यान का तात्पर्य हुआ कि सृष्टि में पहली बार जो वर्षा हुई उसका जो जल था वह रुद्र अर्थात् इन्द्र के तेज से उड़ गया, पृथिवी जल रहित बन गई यह वसिष्ठ का एक जन्म हुआ, मित्र वरुण वायु और उर्वशी अर्थात् मेघस्थ विद्युत् के संघर्ष से पुनः वृष्टि हुई, यही वसिष्ठ का द्वितीय जन्म हुआ यानि वृष्टि जल की इस प्रक्रिया को बनाने वाले उर्वशी एवं मित्र, वरुण हैं, इसीलिए यजुर्वेद में कहा गया—

मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम् ।। यजु० २।१६ ।।

अर्थात् मित्र और वरुण वृष्टि के द्वारा तुम्हारी रक्षा करें। तात्पर्य हुआ वृष्टि का जल वसिष्ठ है तथा वृष्टि जब समाप्त होती है उस समय का जो काल है वह अगस्त्य है, जो वसिष्ठ के पुनः जल बरसाने में कारण बनता है। यदि लगातार वृष्टि होती रहेगी, तो वेदोक्त वसिष्ठ के द्वितीय जन्म का कथन नहीं बन सकता।

वसिष्ठ की उत्पत्ति को एक और मन्त्र स्पष्ट करता है—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः ।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वा ददन्त ।।

ऋ० ७।३३।११ ।।

अर्थात् **वसिष्ठः** = तू वसिष्ठ, **मैत्रावरुणः** = मित्र और वरुण का, **असि** = है, अर्थात् मित्र और वरुण से उत्पन्न हुआ है, **उत** = और, **ब्रह्मन्** = तू महान्, **उर्वश्याः** = सर्वत्र व्याप्त सब सामर्थ्य वाली (**उरु अभ्यश्नुते उरुर्वाविशो अस्याः** निरु० ५।३।४७), विद्युत् के, शक्ति के **मनसः** = मानसिक संकल्प से, **अधिजातः** = अधिकार पूर्वक उत्पन्न हुआ है, **दैव्येन ब्रह्मणा** = प्रकाशकादि गुण वाले महान् परमेश्वर द्वारा, **स्कन्नम्** = उपलब्ध हुआ है, प्राप्त हुआ है, **द्रप्सं** = धारण करने योग्य, जीवनाधार, भक्षणीय तुझको (**द्रप्सः संभृतः प्सानीयो भवति,** निरु० ५।३।४७), **विश्वे देवाः** = समस्त दिव्य शक्तियों ने, **पुष्करे** = अन्तरिक्ष में, (**पुष्करम् अन्तरिक्षम्,** निरु० ५।३।४७), **त्वा** = तुझे, **आ ददन्त** = धारण किया है।

इस मन्त्र से स्पष्ट हुआ कि वसिष्ठ तत्व मित्र वरुण के कणों से निष्पन्न है और वह ब्रह्म महान् है और उर्वशी = विद्युत् के मानस संकल्प से उत्पन्न हुआ है, प्रजनन प्रक्रिया से नहीं तथा द्रप्स = धारण करने योग्य भक्षण करने योग्य वसिष्ठ रूप तत्व ब्रह्म = परमात्मा से प्राप्त हुआ है, चुआ है।

तात्पर्य हुआ परमात्मा वायु एवं विद्युत् से वसिष्ठ को बनाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों मन्त्रों से ज्ञात होता है कि मित्र वरुण उर्वशी अर्थात् **हाइड्रोजन वायु, ओषजन वायु एवं विद्युत् के मेल से वसिष्ठ की उत्पत्ति होती है,** और वह वसिष्ठ वीर्य से उत्पन्न नहीं है, क्योंकि द्रप्स का अर्थ यास्क ने निर्वचन करते हुए प्सानीय = भक्षणीय (**प्सा भक्षणे**) किया है।

और जो बृहद्देवता ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि में मित्र वरुण के रेत की कुम्भ में गिरने की कथा रची है, उसकी आधार निम्न ऋचा है—

सत्रे ह जाता विषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम् ।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ।।

ऋ० ७।३३।१३ ।।

अर्थात् **सत्रे** = सृष्टि यज्ञ में, **ह** = निश्चय से, **जातौ** = उत्पन्न हुए, **इषिता** = गतिशील, **नमोभिः** = वज्रों से (**नमः वज्रनाम**, निघ० २।२०), **कुम्भे** = कुम्भ में, पृथिवी पूरक मेघ में (**कु पृथिवी, उम्भ पूरणे**), **रेतः** = जल को (**रेतः इति उदक नाम** निघ० १।१२), **समानं सिषिचतुः** = समानरूप से सींचा, **ततः** = तत्पश्चात्, **ह** = निश्चय से, **मध्यात् मानः** = बीच से माप युक्त (तटस्थ) **उत् इयाय** = उत्पन्न होता है, **ततः जातम्** = उस उत्पन्न हुए को, **ऋषिं वसिष्ठम्** = गतिशील वसिष्ठ, **आहुः** = कहते हैं।

तात्पर्य हुआ सृष्टि यज्ञ में गतिशील मित्र वरुण वज्ररूपी विद्युत् के द्वारा कुम्भ में = पृथिवी पूरक मेघ में, **रेतः** = जल को भरते हैं, **ततः** = वर्षा रूप में बहकर जो जल पृथिवी पर आता है उसे वसिष्ठ कहा जाता है।

मैत्रावरुणि सम्बन्धित अष्टम मण्डल में प्रायः मन्त्रों के देवता **अग्नि, इन्द्र, आपः, वायु, सूर्य** आदि ही हैं, जो वृष्टि से सम्बन्ध रखते हैं, इससे भी ज्ञात होता है कि **वसिष्ठ वृष्टि जल का वाचक है।**

यह वसिष्ठ ही पृथिवी पर आकर वसिष्ठ पुत्र कहा जाता है।

इसका वर्णन ऋग्वेद के ७वें मण्डल के १८वें सूक्त में किया गया है—

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः ।
न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताऽधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान् ।।

ऋ० ७।१८।२१ ।।

अर्थात् **पराशरः** = पराशीर्ण हिंसित होता हुआ, **शतयातुः** सौ[1] के साथ (सूर्य के द्वारा) प्राप्त होने वाला, **वसिष्ठः** = बसाने वाला, **ये** = यह, **त्वाया** = तुम्हारे, **गृहात्** = घर से, **प्र** = प्रकर्ष रूप से, **अममदुः** = गति करता है (**मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु**), **ते** = तुम्हारे, **भोजस्य** = क्रोध को (**भोजते क्रुध्यति कर्मा** निघ० २।१२), **सख्यम्** = सख्यत्व रूप

१. स एष आदित्यः एकशतविधः, तस्य रश्मयः शतं विधा। शत०ब्रा० १०।२।४।३ ।।

से, **मृषन्त** = नहीं सहन करता है, **अध** = इसके अनन्तर, **सूरिभ्यः** = स्तोताओं को, **सुदिना** = सुख में (**सुदिनमिति सुख नाम** निघ० ३।६), **वि उच्छान्** = रखता है।

तात्पर्य हुआ मेघ में जो जल स्थित है वह वसिष्ठ है और विद्युत् के संघर्षण से जब वह पृथिवी पर आता है यही उसका पराशीर्ण होना है जैसा कि यास्क ने पराशर[१] शब्द के निर्वचन द्वारा स्पष्ट किया है कि **पराशर वह है जो पराशीर्ण स्थविर वसिष्ठ से उत्पन्न है।**

इस प्रकार वसिष्ठ अन्तरिक्ष में उत्पन्न होने वाला जल है, जब वह भूमि पर आता है, तब वही वसिष्ठ के पुत्र[२] के रूप में कहा जाता है, क्योंकि उससे उत्पन्न जितने पदार्थ हैं, वे सभी **वासयिता** = सबको बसाने वाले बन जाते हैं, यदि ये पदार्थ न हों, तो किसी का भी जीवन चलना कठिन होगा। यह पृथिवी पर आया हुआ वसिष्ठ तत्व ही सबका जीवनाधार बनता है। यह तत्व **शतयातुः** = सूर्य की सौ किरणों के साथ प्राप्त होता है, जिससे शतयातुः कहा जाता है एवं अन्तरिक्षस्थ अपने पिता वसिष्ठ के हिंसित होने पर वृष्टि रूप में प्राप्त होता है, इसलिए इसे पराशर कहा जाता है।



---

१. पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे। निरु० ६।६।२१॥

२. यहाँ वसिष्ठ के पुत्र का साक्षात् निर्देश नहीं है पर **'पराशर'** शब्द के निर्वचन से भलीभाँति सुस्पष्ट हो गया कि वसिष्ठ का पुत्र कौन है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि एक होते हुए भी दैविक पदार्थों का पिता-पुत्र आदि सम्बन्ध काल विशेष, गति विशेष एवं अवस्था विशेष के कारण बनता है, यथा—एक ही सूर्य उषा का पुत्र, पिता, पति आदि सम्बन्धों से जाना जाता है, **'नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकं समीची'**। यजु० १२।२। में पुत्र, **'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्'** ऋ० १।१६४।३३ में पिता एवं पति वर्णित है।

पहचानें विश्वकर्मा को

पूजा अर्चन के सघन झुरमुट में "**विश्वकर्मा पूजा**" का भी एक प्रख्यात पादप है। इस पादप के मूल स्रोत विश्वकर्मा हैं। सबके पूज्य विश्वकर्मा को हम शिल्पी कारीगर के रूप में जानते-पहचानते हैं। उन्हें शिल्पशास्त्र का आविष्कर्त्ता तथा उसका सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता माना जाता है। भारत के बढ़ई, लोहार, कुम्हार, इंजीनियर आदि विश्वकर्मा को अपना वंशज, आदिपुरुष मानते हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य है।

प्राचीनकाल में सबसे बड़े शिल्पी और इञ्जीनियर विश्वकर्मा हुए हैं। हमारी संस्कृति के धरोहर रामायण, महाभारत तथा पुराणों में विश्वकर्मा का शिल्पी[१] प्रजापति के रूप में बहुधा नाम आया है। वे गृहनिर्माण, शस्त्रनिर्माण, विमान निर्माण, भोजन निर्माण आदि के कौशलविद् थे। लंका[२] का निर्माण एवं पाण्डवों के सभागार[३] का निर्माण विश्वकर्मा ने ही किया। विश्वकर्मा के वस्तुनिर्माण के साथ-साथ इन ग्रन्थों में उनकी वंशपरम्परा का भी बड़ी उत्तमता से संकेत किया गया है। विश्वकर्मा प्रभास[४] और योगसक्ता के पुत्र हैं, इनका पुत्र[५] नल है आदि-आदि वर्णन है। इस प्रकार विश्वकर्मा का हमारे सामने बहुत विशाल परिचय है पुनरपि सन्देह रहता है, क्या मानव जाति के प्रसिद्ध कारीगर विश्वकर्मा ही इस पूजा के मान्य देव हैं या अन्य कोई विश्वकर्मा है।

---

१. विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः। महाभा० आदि० ६६।२८॥

२. राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा॥ रामा०सुन्दर० ५।२।२०॥
प्राकारवप्रसंबाधां निर्मितां विश्वकर्मणा।
प्रविवेश पुरीं लंकां स सीतो राक्षसेश्वरः॥ महाभा०वन० २७९।१२॥

३. सभां प्रचक्रमे कर्त्तुं पाण्डवानां महात्मनाम्। महाभा०सभा० १।१८॥
बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा॥ महाभा०सभा० ३।२६॥

४. योगसक्ता जगत्कृत्स्नमसक्ता विचचार ह।
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य ह।
विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः॥ महाभा०आदि० ६६।२७,२८॥

५. अयं सौम्य नलो नाम तनयो विश्वकर्मणः। रामा०युद्ध० २२।४१॥
अस्ति त्वत्र नलो नाम वानरः शिल्पिसम्मतः।
त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान् विश्वकर्मणः॥ महाभा०वन० २८३।४१॥

वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि **'विश्वकर्मा' गुणवाचक नाम है व्यक्तिवाचक नहीं,** अर्थात् यह यौगिक शब्द है। विश्वकर्मा शब्द का यौगिक अर्थ होगा **"विश्वानि कर्माणि येन यस्य वा स विश्वकर्मा अथवा विश्वेषु कर्म यस्य वा स विश्वकर्मा, विश्वकर्मा सर्वस्य कर्त्ता**[१] अर्थात् सम्पूर्ण कार्य जिसके द्वारा या जिसमें सम्पन्न होते हैं और समस्त विश्व में जिसका कार्य है, जो सबका कर्ता है वह विश्वकर्मा है। विश्वकर्मा शब्द के यथार्थ से हम कितने दूर हैं यह व्युत्पत्ति से स्पष्ट है। विश्वकर्मा शब्द अपने अन्दर व्यापक अर्थ समाहित किये हुए है। यौगिकता के आधार पर कोई निश्चित विश्वकर्मा नहीं है, तर-तम की स्थिति से जड़-चेतन रूप में अनेक विश्वकर्मा हैं।

परमपिता परमात्मा[२] सबसे बड़ा और **प्रथम विश्वकर्मा सर्वकर्ता है,** जिसके बिना सृष्टि का एक तृण भी न हिल सकता, न बन सकता है। जगत् को निरन्तर गतिमान् करता हुआ रात-दिन का विभाजन करने वाला **सूर्य**[३] **भी विश्वकर्मा है**। तीनों लोकों में व्याप्त होने वाला **वायु**[४] **भी विश्वकर्मा है**। सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य जिसकी पीठ पर होते हैं वह धरित्री ममतामयी **पृथिवी**[५] **भी विश्वकर्मा है**। तृतीय लोक का परिचायक **द्यौलोक**[६] **भी विश्वकर्मा है**। **अग्नि**[७] जो सब कार्यों का अग्रणी है **वह विश्वकर्मा है**। प्राणियों के कार्यों की प्रस्ताविका **वाणी**[८] **भी विश्वकर्मा है**। सभी कार्यों का मूल आधार **इन्द्र**[९] **भी विश्वकर्मा है**। इस प्रकार विश्वकर्माओं की बड़ी विस्तृत सूची है। तात्पर्य हुआ कि कोई प्रकाशकार्य से, कोई धारण कार्य से, कोई आधार रूप से, किसी न किसी रूप में **तीनों लोकों के दैविक पदार्थ तथा वह देवाधि देव विश्वकर्मा पदवी को धारण कर रहे हैं**। ये सभी विश्वकर्मा हमारे जिज्ञास्य बने हुए हैं।

---

१. निरु० १०।३।२५ ॥
२. प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत्। ऐ०ब्रा० ४।२२ ॥
३. (१) असौ वै विश्वकर्मा योऽसौ सूर्यः तपति। (२) कौ०ब्रा० ५।५ ॥, गो०उ० १।२३ ॥
४. अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवत एष हीदं सर्वं करोति ॥ शत०ब्रा० ८।१।१।७ ॥
५. इयं पृथिवी विश्वकर्मा ॥ मै०सं० ४।१।३ ॥
६. असौ द्यौः विश्वकर्मा ॥ तै०ब्रा० ३।२।३।७ ॥
७. विश्वकर्मायमग्निः ॥ शत०ब्रा० ९।२।२।२ ॥
८. वाग्वै विश्वकर्मऽर्षिर्वाचा हीदं सर्वं कृतम् ॥ शत०ब्रा० ८।१।२।९ ॥
९. इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत् ॥ ऐ०ब्रा० ४।२२ ॥

देवाधि देव विश्वकर्मा परमात्मा के विश्वकर्तृत्व का परिचय चारों वेदों के अनेक मन्त्र करा रहे हैं—

ओ३म् विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ।।

ऋ० १०।८२।२ ॥

विश्वकर्मा = विश्वरचयिता परमात्मा, **विमना** = विशेष मनन करने वाला, **आत्** = और, **विहायाः** = व्यापक, **धाता** = धारण करने वाला, **विधाता** = वेद ज्ञान के रूप में संविधान देने वाला और कर्मफल का दाता, **उत परमः** = सबसे परे, **संदृक्** = (इन्द्रियों का) दर्शयिता उनको दर्शन शक्ति देने वाला है (**सन्दर्शयितेन्द्रियाणाम्** निरु० १०।३।२५), **तेषाम्** = उन (इन्द्रियों के), **इष्टानि** = प्रिय विषय, **इषा संमदन्ति** = उसकी प्रेरणा से भली प्रकार आनन्द से युक्त होते हैं, **यत्र सप्तऋषीन्** = जिस परमात्मा में लगी हुई सात ज्ञानेन्द्रियाँ, **पर एकमाहुः** = मोक्ष में वर्तमान उस अधिष्ठाता को एक कहती हैं।

अर्थात् परमात्मा विश्व का रचने वाला, व्यापक, सर्वज्ञ एवं जीवों को विधान में रखने वाला और इन्द्रियों के विषयों का वह प्रेरक है। उस विश्व रचयिता के कार्य को देखकर सब किंकर्त्तव्यविमूढ हैं क्योंकि उसकी रचना की फैक्ट्री के साधनों को, उपकरणों को हम नहीं देख पाते, हमारे समक्ष मात्र निर्मित पदार्थ ही होते हैं। पृथिवी आदि लोकों को उसने कैसे बनाया ? निर्माण का क्या आधार था ? पशु, पक्षी, वनस्पति आदि में किस तरह से रंग भरे हैं ? आदि-आदि जिज्ञासायें विश्वकर्मा के प्रति कौंधती हैं जिसका समाधान वेद ने प्रश्नोत्तर रूप में किया है—

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ।।

ऋ० १०।८१।२ ॥

किं स्वित् अधिष्ठानम् आसीत् = क्या ही अधिष्ठान था, आश्रय था, **कतमत्स्वित् आरम्भणं कथा आसीत्** = कौन सा ही आरम्भ करने का, किस प्रकार का (मूल) था, **यतः** = जिस (मूल) से, **विश्वकर्मा** = विश्व रचयिता परमेश्वर ने, **भूमिं द्यां जनयन्** = भूमि और द्यौ लोक को = द्यावापृथिवीमय जगत् को उत्पन्न किया है ?

उत्तर – **विश्वचक्षाः** = सर्वद्रष्टा परमेश्वर, **महिना** = बड़ी शक्ति से, **व्यौर्णोत्** = विकसित करता है, सृष्टिरूप में फैलाता है।

मन्त्र में बताया गया है कि परमात्मा ने अपनी महान् शक्ति से सृष्टि के आधार भूत मूल तत्वों को विस्तृत किया है अर्थात् सृष्टि रूप दिया है।

अगले मन्त्रों में उसके सर्वकर्तृत्व को और भी सुस्पष्ट किया गया है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।

ऋ० १०।८१।३ ।।

विश्वतः चक्षुः = सर्वत्र व्याप्त नेत्र वाला सर्वद्रष्टा (**विश्वतः सर्वस्मिन् जगति चक्षुर्दर्शनं यस्य स विश्वतश्चक्षुः, विश्वतः विश्वप्रातिपदिकात्, सप्तम्यर्थे, तसि प्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानमिति तसि प्रत्ययः**, पा०वा० ५।४।४४), **उत** = और, **विश्वतः मुखः** = सर्वत्र व्याप्त मुख शक्ति वाला, **विश्वतः बाहुः** = सर्वत्र व्याप्त बाहु शक्ति वाला पराक्रमी, **उत** = और, **विश्वतस्पात्** = सर्वत्र व्याप्त गतिवाला, **एकः देवः** = एक ही दिव्य परमात्मा, **द्यावाभूमी जनयन्** = द्यौ लोक से पृथिवी लोक पर्यन्त समस्त जगत् को उत्पन्न करता हुआ, **बाहुभ्यां** = भुजाओं से, पराक्रम से, **पतत्रैः** = पाद शक्ति से, **सन्धमति** = ब्रह्माण्ड को आन्दोलित करता है, चलाता है।

मन्त्र का तात्पर्य है कि परमात्मा अकाय रूप होने पर भी दर्शन शक्ति, ज्ञान शक्ति, बाहु शक्ति, पाद शक्ति से परिपूर्ण है इसी से वह द्यावापृथिवीमय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने-अपने कार्य में व्यापृत करता है।

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता ।
यो विश्वजिद्, विश्वभृद्, विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ।।

अथर्व० ४।११।५ ।।

न यज्ञपतिः = न यज्ञ रक्षक पुरुष, **न यज्ञः** = न संगतिकरण, **यस्य ईशे** = जिस परमेश्वर का शासक है, **न दाता न प्रतिग्रहीता** = न देने वाला, न लेने वाला, **अस्य ईशे** = इसका शासक है, **यः** = जो, **विश्वजित्** = सर्वविजेता, **विश्वभृत्** = सबका पोषक, **विश्वकर्मा** = सब कार्यों का करने वाला है, **यतमः** = जौन सा, **चतुष्पात्** = चारों ओर गया हुआ है, उस, **घर्मम्** = दीप्त (**घृ क्षरणदीप्त्योः**) परमात्मा को, **नः** = हमें, **ब्रूत** = बताइये।

अर्थात् परमात्मा सबका कर्त्ता है उसका कोई शासक नहीं है वह सबका शास्ता है ऐसा दीप्त प्रभु जानने योग्य है।

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः ।

विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ।। साम० १०२६ ।।

त्वमिन्द्र = तुमं परमैश्वर्यशाली प्रभो ! (**इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः**), **अभिभूः असि** = सबका अभिभव करने वाले हो अर्थात् सर्वोपरि हो, **त्वम्** = तुमने, **सूर्यम्** = सूर्य को, **अरोचयः** = चमकाया है, **विश्वकर्मा** = सबके रचयिता, **विश्वदेवः** = सबके पूज्य, दीप्तिमान्, **महान् असि** = महनीय हो, पूज्य हो।

अर्थात् परमात्मा सबका रचने वाला है, सर्वोपरि है सूर्यादि को प्रकाश देने वाला है।

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे ।

तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ।।

यजु० ३१।१७ ।।

अद्भ्यः सम्भृतः = जलों से परिपुष्ट, **रसाच्च** = रस से, **पृथिव्यै** = पृथिवी का (निर्माण किया) (इस पृथिवी आदि के निर्माण का ज्ञान), **विश्वकर्मणः** = विश्व रचयिता का, **अग्रे** = पहले से ही, **समवर्तत** = था, **तस्य त्वष्टा** = उस (जगत्) का तक्षण कर्ता, निर्माता, **रूपम्** = स्वरूप को, **एति** = जानता हुआ, **विदधत्** = बनाता है, **तत्** = वह परमात्मा, **मर्त्यस्य** = मनुष्य के (**मर्त्य इति मनुष्यनामसु पठितम्** निघ० २।३), **देवत्वम्** = व्यवहार को, **अग्रे** = आदि में, **आजानम्** = जनाता है।

मन्त्र में संकेत किया गया है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा जल के सूक्ष्म कणों से तथा अग्नि आदि के परमाणुओं के संयोग से पृथिवी, जल आदि का निर्माण करता है। प्रत्येक वस्तुओं को विभिन्न रूप देता है और मनुष्यों को वेदरूपी ज्ञान देकर व्यवहार कुशल बनाता है।

इस प्रकार उपुर्यक्त मन्त्रों के माध्यम से हमें भली-भाँति ज्ञात हो गया कि **परमात्मा ही प्रथम विश्वकर्मा है**। वेदों में लगभग **५४ बार विभिन्न** विभक्तियों में **'विश्वकर्मा'** नाम लेकर सर्वस्रष्टा के विश्वकर्तृत्व का अद्भुत वर्णन किया गया है जो बड़ा मनोरम है। प्रभु के विश्वकर्तृत्व को वेदों में **साधुकर्मा,**

विश्वकृत्, विश्वजित्, विश्वभृत्, विश्वशम्भु, त्वष्टा, प्रजापति, इन्द्र आदि विशेषणों द्वारा भी दर्शाया गया है। वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रियानुसार यथा प्रकरण **विश्वकर्मा वाले मन्त्रों में सूर्य, अग्नि आदि के विश्वकर्मत्व को समझना चाहिए।**

परमात्मा तथा इन्द्र के विश्वकर्मत्व को समझने में **चातुर्मास्य यागों में साकमेधीय पर्व के अन्तर्गत आया हुआ प्रकरण** बड़ा ही महत्वपूर्ण है। पर्व के उस प्रकरण को जानने से पूर्व उस प्रकरण के इन्द्र को जानना आवश्यक है। इन्द्र शब्द व्यापक अर्थ वाला है **सृष्टि में जो भी परमात्मा, राजा, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि ऐश्वर्यवान् हैं वे सब इन्द्र हैं।** यह प्रकरण अन्तरिक्ष में घुमड़ते बादलों के मध्य स्थित जलों को किस प्रकार पृथिवी लोक पर लाया गया है इसका विस्तृत व्याख्यान करता है। वहाँ बताया गया है कि मेघस्थित जलों को इन्द्र नीचे लाता है।

महर्षि यास्क ने भी **'इन्द्र इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा'** निरु० १०।३।४ ॥ आदि निर्वचनों द्वारा इन्द्र को जल का भेदक अर्थात् जल का प्रस्रवण कर्ता बताया है। उस इन्द्र का परिचय देते हुए काण्वीय शतपथ में कहा है—

अथ यत्र अग्निः वर्षिष्ठं ज्वलति तद्धेन्द्रो भवति। काण्वीय शत० ३।१।१।१ अर्थात् अग्नि का जो प्रवृद्धतम रूप है यानि **विद्युत् है वह इन्द्र है।** यह इन्द्र[1] आदित्यवासी है।

अब देखें साकमेधीय प्रकरण को—

सवत्सा गावो वसन्ति साकमेधत्वाय .... स श्वो वृत्रं हन्तुमुपप्लायत तं मरुतः परिक्रीडन्त आयँस्तेऽस्याप्त्वा व्यनयँस्त एनमभ्यधर्षयँस्तस्मात् क्रीडयस्ते संयत्ता आसँस्ते देवा असुराणां परमन्तं न परापश्यँस्ते मरुतः क्रीडीन् क्रीडतोऽपश्यँस्तेऽविदुर्जितमनसो वा इम इति तेभ्य एतं भागं निरवपँस्ततोऽजयन् विजित्या एवैषोऽसौ वा आदित्य इन्द्रो रश्मयः क्रीडयस्साकं रश्मिभिः प्रचरन्ति विजित्यै। देवा वै वृत्रं हतं न व्यजानँस्तं मरुतोऽध्यक्रीडँस्तस्मात् क्रीडयोऽथैतानि पञ्च हवींषि संतत्या अथैन्द्राग्न इन्द्राग्नी वै तं वज्रेणाभ्यौहतामथो आहुरिन्द्राग्नी अस्मै वज्रमनुबिभृतामित्यथैन्द्र एतेन वा **इन्द्रो वृत्रमहन्** स एतमुद्धारमुदहरतोद्धार

---

१. इन्द्रो वै नमुचिं नालभत स रश्मीन् कुलायं कृत्वा अन्वारोहत् अमुम् आदित्यम्। मै०सं० ४।३।४ ॥

एवास्यैष भाग एवाथ वैश्वकर्मणो **विश्वा मे कर्म कृतानीति विश्वकर्मा ह्यभवद्वृत्रं हत्वा......** ॥ का०सं० ३६।१० ॥

अर्थात् वत्स सहित गौवें रहती हैं साकमेध के लिए .... वह (इन्द्र) कल वृत्र को मारने के लिए चला, उसके चारों ओर क्रीडा करते हुए मरुत् आ गये, वे इसको घेर कर चले, उन्होंने इन्द्र को धर्षित किया अतः वे खिलाड़ी हैं, वे असुर संयुक्त थे उन मरुत् देवों ने असुरों के परमन्त = अवधि को नहीं देखा, उन असुरों ने खिलाड़ी मरुतों को खेलते हुए देखा, उन असुरों ने जाना ये जितमनस् हैं अर्थात् मन से जीत लिया है ऐसा सोच उनके लिए असुरों ने यह भाग दे दिया, तब वे असुर जीत गये अर्थात् मेघ का कुछ हिस्सा जलरूप हो गया, शेष नहीं हुआ, मानो मेघ जीत गये, उनकी जीत से ही वह यह आदित्य, इन्द्र रश्मियाँ, और मरुत् रश्मियों के साथ विजय के लिए घूमते हैं। देवों ने वृत्र को मरा हुआ नहीं जाना वे मरुत् देव उस वृत्र के ऊपर खेले इसलिए क्रीडी हुए (जल बनने का उपर्युक्त कार्य) इन पाँच हवियों की सन्तति = विस्तार से (दर्शाया गया है) सम्पन्न हुआ, ततः इन्द्राग्नी की हवि, इन्द्राग्नी ने उस वृत्र को वज्र से मारा, अतः कहा इन्द्राग्नी ने इसके लिए वज्र धारण किया ततः इन्द्र को हवि इससे, **इन्द्र ने वृत्र को मार दिया** वह उस ऊपर उठते हुए का ऊपर उठना ही हैं (अर्थात् इन्द्र द्वारा वृत्र का मारना जल को ऊपर उठाना है) वह इस इन्द्र का ही भाग है (अर्थात् जो मेघस्थित जल है वह इन्द्र का ही भाग है उसे ऊपर जाना ही है, पुनः जिसे नीचे आना है) इतना कार्य विश्वकर्मा हवि से जनाया है, **विश्व[१] = बहुत मैंने कार्य किये अतः विश्वकर्मा हुआ वृत्र को मारकर (इन्द्र)....** । अर्थात् अन्तरिक्ष से द्यौलोक में जल ले जाकर पुनः पृथिवी को सौंपकर इन्द्र बड़े गर्व से कह रहा है कि **मैं इतना बृहत् कार्य करने के कारण विश्वकर्मा बन गया हूँ**। इन्द्र के इस बृहत् कार्य को विश्वकर्मा देवता की हवि से द्योतित किया गया है।

काठक संहिता के इस प्रकरण में बड़े रोचक मनोरम ढंग से स्पष्ट किया गया है कि **उस इन्द्ररूप परमपिता परमात्मा ने तथा सूर्यस्थ वैद्युत अग्नि ने बादलों को भेद कर विश्वकर्मा उपाधि प्राप्त की है**। साकमेध पर्व के इस स्थल में आपः कणों का अभ्र बनना, अभ्रों का एकत्रित होना उनका जलरूप

१. विश्वमिति बहुनामसु पठितम् ॥ निघ० ३।१ ॥

धारण करना पुनः आदित्य[१], इन्द्र, रश्मि[२], क्रीडी = मरुतों[३] के द्वारा घेराव करने पर इन्द्र द्वारा उस वृत्र रूप मेघ का हनन करना आदि-आदि दैवीय रहस्यों का वर्णन किया है **जिनका करना मानव के वश की बात नहीं है।**

वर्षाकालीन रहस्यों का विवेचन करने वाले इस साकमेधीय पर्व का याग वर्षा काल के पश्चात् कार्तिक[४] अथवा मार्गशीर्ष[५] के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को अथवा पूर्णिमा को होता है। **सम्भवतः विश्वकर्मा पूजा का मूल यह चातुर्मास्य याग का साकमेधीय पर्व ही है। अज्ञानतावश जब साकमेध पर्व के मूल उद्देश्य को, विधि विधान को भूल गये तब साकमेध पर्व के याग ने इस 'विश्वकर्मा पूजा' का रूप ले लिया जो आज १७ सितम्बर में की जाती है।**

मध्यकाल में वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन के क्रम में शिथिलता होने पर **इतिहास के विश्वकर्मा और सृष्टि के रचयिता विश्वकर्मा प्रजापति परमात्मा को तथा सूर्य आदि विश्वकर्माओं को इस प्रकार से मिला दिया गया कि हम विश्वकर्मा के वास्तविक ज्ञान से वञ्चित हो गये** और उन दैवीय विश्वकर्माओं के विश्वकर्मत्व को ऐतिहासिक पुरुष में देखने लगे जिसका परिणाम हुआ कि उस शिल्पी महापुरुष की चार सिर, चार मुख, आठ आँख, आठ भुजा और आठ पैर, पीछे पंख आदि वाली आकृति बना डाली। बलिहारी है हमारी इस कल्पना को।

आरम्भ काल में नाम विधि-नामकरण के कोष के रूप में मनुष्य के पास वेद थे, मात्र वेद ही थे। जिस प्रकार परमात्मा ने सृष्टि के समस्त पदार्थों का उनके गुणकर्मानुसार नामकरण किया है तद्वत् आदि मानवों ने भी अपने तथा अपने वंश के व्यक्तियों के गुणकर्मानुसार वेद[६] से लेकर नाम रखे। एतादृश

---

१. असौ वा आदित्यो भा इति ॥ जै०ब्रा० १।३३० ॥
२. अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ते रश्मयोऽभवन् ॥ शत० ६।१।२।३ ॥
३. मरुत् आपः कणों की विद्युत् युक्त वात रश्मियाँ हैं यथा—विद्युन्मद्भिर्मरुतः ॥ ऋ० १।८८।१ ॥
४. कार्त्तिक्यां साकमेधा द्व्यहम् ॥ कात्या०श्रौ० ५।६।१ ॥
५. उत्तरभारत तथा दक्षिण भारत के ऋतुचक्र में लगभग एकमास का अन्तर होता है अतः इनके विधान में कार्त्तिक मास, मार्गशीर्ष आदि का भेद से उल्लेख है।
६. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु० १।२१ ॥

नामं विधान की परम्परा ऐतिहासिक ग्रन्थ ब्राह्मण, रामायण, महाभारत और पुराणादि में बहुलता से उपलब्ध है। इस परम्परा में एक नाम विश्वकर्मा भी है। विश्वकर्मा नामधारी ऐतिहासिक शिल्पी निर्माण कार्य में अत्यधिक कुशल थे, वास्तुकला के ज्ञाता थे यह सच है। **पर सृष्टि के रचने का कार्य उन्होंने नहीं किया अपितु परमात्मा ने किया यह वेदानुमोदित है।** और जिन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने वेद के विश्वकर्मा विषयक मन्त्रों का दर्शन करने पर अपना नाम **'विश्वकर्मा भौवनः'** रख लिया वे **मन्त्रद्रष्टा विश्वकर्मा भी ऐतिहासिक शिल्पी विश्वकर्मा से पृथक् हैं** यह भी अच्छी तरह से अवगत कर लेना चाहिए।

महर्षि दयानन्द ने वेद तथा वैदिक वाङ्मय के पुष्कल प्रमाणों के आधार पर ही वेद मन्त्रों में आये हुए विश्वकर्मा शब्द की अपने वेद भाष्य में **'विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्य, विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य वा स विश्वकर्मा आदि** यौगिक व्युत्पत्तियाँ करके परमात्मा तथा सूर्य, वायु आदि अर्थ किये हैं, तथा पूना प्रवचन के आठवें प्रवचन में ऐतिहासिक शिल्पी विश्वकर्मा का **प्रजापति विश्वकर्मा से पार्थक्य निम्न शब्दों में दर्शाया है—**

''कला-कौशल्य की व्यवस्था करने वाला विश्वकर्मा नामक एक पुरुष हुआ। विश्वकर्मा परमेश्वर का भी नाम है और एक शिल्पकार का भी था। अस्तु, विश्वकर्मा ने विमान[१] की युक्ति निकाली।

धन्य हैं ऋषिवर जिन्होंने अपने इस वक्तव्य के द्वारा भ्रान्त एवं मिथ्या कल्पनाओं से हमें बचा लिया। **इस प्रकार विश्वकर्मा परमात्मा तथा ऐतिहासिक शिल्पी विश्वकर्मा का पार्थक्य ज्ञात करते हुए विश्वकर्मा पूजा के महत्व को समझना चाहिए** एवं उस इतिहास पुरुष के शिल्पकौशल से शिक्षा लेकर शिल्प विद्या को प्रवृद्ध करना चाहिए।

विश्वकर्मा पूजा वस्तुतः उस देवाधि देव जगन्नियन्ता जगत् विधाता, त्वष्टा, प्रजापति परमात्मा की ही पूजा-अर्चना है और उसके ऋत में चलने वाले सूर्य, अग्नि, वायु आदि शिल्पियों के विलक्षण कार्यों की द्योतिका है जो आज लौकिक भवनादि निर्माता व्यक्ति विशेष की पूजा में प्रसिद्ध हो गई है।



१. स ह्यासनवटं श्रीमत्पुष्पकं विश्वकर्मणा।
विहितं चित्र पर्यन्तमातिष्ठत धनाधिपः ॥ महा०वन० १६१।३७ ॥

वेदों का वनस्पति विज्ञान

सृष्टि के पदार्थों का वर्गीकरण या विभाजन इतना सरल, सुकर नहीं है जितना कि हम समझते हैं, क्योंकि पदार्थ निर्माता परमात्मा अनन्त ज्ञान वाला है अत: उसके निर्माण भी अनन्त हैं, दुर्ज्ञेय हैं। पृथिवी के जिन पदार्थों को हम अहर्निश देखते हैं, उनमें बाहुल्य उन पदार्थों का होता है जिनके हम नाम तक नहीं जानते, गुण, कर्म को जानना तो दूर की बात है, उनमें कुछ एक ही ऐसे पदार्थ होते हैं जिनके रूप, रंग, नाम, गुण आदि से परिचय हम रखते हैं, पुनरपि हमारे ऋषि-मुनियों ने पदार्थों के वर्गीकरण में उनके विभाजन में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी है, अपनी ऊहा से तीनों लोकों के पदार्थों का स्वरूप वैदिक ग्रंथों में प्रस्तुत किया है।

पृथिवी के जिन पदार्थों को वृक्ष, पेड़, बेल, तृण, घास, फूस आदि नामों से पहचानते हैं और नित्य रोपते, उखाड़ते, रौंदते, फेंकते हैं उनका विभाजन आयुर्वेद के चरक, सुश्रुत ग्रन्थों में तथा अन्य चिकित्सकीय शास्त्रों में वनस्पति औषधि आदि नामों से किया गया है। वनस्पतियों का यह विभाजन सुगन्धित छिलके वाली, फल, फूल या बीज की समानता रखने वाली, दुग्ध वाली, गोंद वाली, गाँठदार, जड़ वाली इत्यादि प्रकार के आधारों पर किया है।

चरक में इन वनस्पतियों का विभाग औद्भिद द्रव्य के नाम से चतुर्धा वर्णित है—

भौममौषधमुद्दिष्टम्, औद्भिदं तु चतुर्विधम्।
वनस्पतिर्वीरुधश्च वानस्पत्यस्तथौषधिः ।।
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि।
ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः ।।

चरक सू० १।७०,७१ ।।

अर्थात् वनस्पति, वीरुध, वानस्पत्य और ओषधि ये चार प्रकार के औद्भिद[1] द्रव्य हैं। फलवाले पौधे, वनस्पति, जिनमें फल और फूल दोनों होते

१. उद्भिद्य जायन्ते इति औद्भिदः ।।

हैं वे वानस्पत्य, फल पकने के बाद नष्ट हाने वाले ओषधि तथा बहुत विस्तार वाले वीरुध कहे जाते हैं।

इसी प्रकार सुश्रुत में भी—

तासां स्थावराश्चतुर्विधाः - वनस्पतयो वृक्षावीरुधओषधय इति। तासु अपुष्पाः फलवन्तो वानस्पत्यः। पुष्पफलवन्तो वृक्षाः। प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः फलपाकनिष्ठा ओषधय इति।। सुश्रुत सू० १।३७॥

अर्थात् स्थावर द्रव्य चार प्रकार के हैं—वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और ओषधि। जिनके पौधों में पुष्प न हों, फल आते हों वह वनस्पति, जिनमें पुष्प, फल दोनो आते हों, वह वृक्षं, जो फैलने वाले और गुल्म = झाड़ वाले हैं वे वीरुध तथा जो फलों के पकने तक ही जीवित रहते हैं अर्थात् पकने के बाद स्वयं सूखकर गिर पड़ते हैं, उन्हें ओषधि कहा जाता है। चरक और सुश्रुत के वचनों में कुछ थोड़ा सा अन्तर है चरक जिसे **वानस्पत्य कहता है** सुश्रुत उसे **वृक्ष नाम से** अभिहित करता है।

पाणिनीय सूत्र **"विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः'** पा० ८।४।६ के व्याख्यान में काशिकाकार जयादित्य ने भी वनस्पतियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

फलीवनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः।
ओषध्यः फलपाकान्ताः लतागुल्माश्च वीरुधः ।।

काशिका० ८।४।६ ॥

इस वचन की व्याख्या करते हुए न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि तथा पदमञ्जरीकार हरदत्त मिश्र ने **वनस्पतिः** = उदुम्बर, प्लक्ष, अश्वत्थ आदि, **पुष्पोपगाः** = वेतस्-बांस आदि, **फलोपगाः** = उदुम्बर, प्लक्ष आदि तथा **पुष्पफलोपगाः** = आम्र इत्यादि वृक्ष होते हैं। अर्थात् जो वनस्पति होता है वह निश्चित वृक्ष होता है, और जो वृक्ष होता है उसका निश्चित रूप से वनस्पति होना आवश्यक नहीं है। **ओषध्यः** = शाली = धान, गेहूँ, कदली आदि, **लता** = मालती इत्यादि, **गुल्म** = ह्रस्व शाखाओं वाले होते हैं और **वीरुधः** = बहुत शाखा व पत्रों वाले कहलाते हैं ऐसा व्याख्यान किया है।

मनु महाराज ने भी वनस्पतियों का विभाग दर्शाया है—

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ।।
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतःस्मृताः ।।
गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्लय एव च ।।

मनु० १।४६,४७,४८

बीज तथा शाखा से लगने वाले स्थावर जीव उद्भिज होते हैं। फल के पकने पर जिनके पौधे नष्ट हो जाते हैं और जिनमें बहुत फल-फूल लगते हैं वे ओषधि कहाते हैं, बिना फूल लगे फलने वालों को वनस्पति और फूल लगने के बाद फलने वाले को वृक्ष कहते हैं।

इस प्रकार लोक में फल, फूल आदि के आधार पर वनस्पति, वृक्ष, वीरुध, ओषधि आदि का विभाजन पृथक्-पृथक् किया गया है[१], यानि इनका जातिगत भेद स्थापित किया गया है **पर वेदों में वनस्पति वीरुध, ओषधि आदि शब्द पर्याय रूप में ही आये हुए हैं अतः वनस्पतियों के विभाग का फल, फूल आदि के आधार पर स्पष्ट संकेत नहीं प्राप्त है अपितु वनस्पतियों के रंग, रूप, गुण आदि द्वारा उनका विभाजन स्पष्ट लक्षित होता है।**

वैसे तो चारों वेदों में ही ओषधियों का वर्णन है तथापि अथर्ववेद में बहुलता से दृष्टिगोचरु होता है, एतदर्थ ही **अथर्ववेद को भैषज्य**[२] वेद भी कहा जाता है।

वनस्पतियों के वर्गीकरण के लिए अथर्ववेद के ८वें काण्ड का ७वाँ सूक्त विशेष रूप से द्रष्टव्य है। संकेतित सूक्त में रूप, रंग, आकार आदि द्वारा वनस्पतियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

---

१. इसी प्रकार पुराणों में फल, पुष्प आदि के आधार पर विभाग किया गया है, वायु०पु०८।१२४-१५८ ॥

२. यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥
अथर्व० ११।६।१४ ॥

यहाँ भेषजा शब्द से अथर्ववेद का ग्रहण है।

रूपभेद—

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ।।
अथर्व० ८।७।४ ।।

अर्थात् **प्रस्तृणतीः = (स्तृञ् आच्छादने)** बहुत छादन करने वाली अर्थात् मूल से ही विभिन्न शाखाओं में फैलने वाली, अनार, मेंहदी आदि, **स्तम्बिनीः = (स्था + अम्बच्, इनिः)** एक तने रूप खम्भे वाली, अशोक, कदम्ब आदि, **एकशुङ्गाः** = एक अङ्कुर कोपल वाली, आक आदि, **प्रतन्वतीः** = बहुत फैली हुई ब्राह्मी, **हेलेञ्चा,** पुदीना आदि, **ओषधीः** = ओषधियों को, **आ वदामि** = (मैं परमात्मा या वैद्य) आदेश देता हूँ, बुलाता हूँ तथा **याः** = जो, **अंशुमतीः** = काँटों वाली, नागफनी, भटकटैय्या, ऊँटकटारा आदि, **काण्डिनीः** = बहुत, **काण्ड** = शाखा वाली, ईख, सरकण्डा, दूर्वा आदि, **विशाखाः** = शाखाहीन खजूर, ताड़ आदि **(विगताः शाखाः)** तथा शाखा सहित आम, अमरूद आदि **(विशिष्टाः शाखाः), वैश्वदेवीः** = सभी दिव्यगुणों से युक्त, **उग्राः** = प्रचण्ड बल वाली, **पुरुषजीवनीः** = मनुष्यों के प्राण धारण कराने वाली, **वीरुधः** = विशेष रूप से उगती हुई ओषधियाँ **(विशेषेण रोहन्तीति वीरुधः), ते ह्वयामि** = तुम्हारे लिए बुलाता हूँ, उपयोग में लाता हूँ।

इस मन्त्र में रूप भेद से ओषधियों का वर्णन है। विभिन्न शाखा, एक तना, काँटा आदि विशेषण ओषधियों के रूप को बता रहे हैं। मन्त्र में **"ओषधीः"** तथा **"वीरुधः"** पद आये हैं जो लोकोक्त अर्थों के वाचक नहीं है अपितु वनस्पति इस सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हैं।

रंगभेद—

या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः ।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि ।।
अथर्व० ८।७।१ ।।

अर्थात् **याः** = जो, **बभ्रवः** = भूरे रंग वाली पोषण धारण करने वाली, कत्था आदि **(डुभृञ् धारणपोषणयोः), याश्च** = और जो, **शुक्राः** = श्वेत रंग वाली, वीर्य बढ़ाने वाली, सफेद फूल की कटेरी आदि, **रोहिणीः** = लाल रंग वाली, अथवा स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली कुटकी, मजीठ आदि **(रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च), उत** = और, **पृश्नयः** = चितकबरी, **(व्याघ्ररूपं**

वै पृश्निः, मै० ४।२।२४), **असिक्नीः** = श्याम = नील वर्ण वाली, अबद्ध शक्ति वाली बाकुची आदि, **कृष्णाः** = आकर्षण करने वाली, काले वर्ण वाली, पिपरामूल, पीपल आदि **ओषधीः** = ओषधियाँ हैं, **सर्वाः** = उन सबको, **अच्छा वदामसि** = अच्छे प्रकार, मैं वैद्य आदेश देता हूँ।

यह मन्त्र ओषधियों का रंगभेद से वर्णन कर रहा है। "**ओषधीः**" शब्द सामान्य अर्थ वाला है फलपाकान्त ओषधि के लिए नहीं।

आकार भेद—

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव ।
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य
भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ।।

अथर्व० ८।७।१२ ॥

अर्थात् **आसां वीरुधाम्** = इन ओषधियों का, **मूलं मधुमत्** = जड़ माधुर्य वाला, **अग्रम्** = ऊपरी भाग-सिरा, **मधुमत्** = माधुर्य युक्त, **मध्यमम्** = मध्य भाग, **मधुमत्** = माधुर्य युक्त, **पर्णम्** = पत्ते, **मधुमत्** = माधुर्य वाले, **पुष्पम्** = फूल, **मधुमत्** = माधुर्य वाले, **बभूव** = हैं, **आसाम्** = इन ओषधियों का, **अमृतस्य भक्षः** = अमृत का भोजन है अर्थात् अमरता देने वाला है, **मधोः संभक्ताः** = मधुरता से परिपूर्ण हैं, **गोपुरोगवम्** = गौओं का पालन करने वाले या गौओं का प्राधान्य मानने वाले, इन ओषधियों से, **घृतम्** = घी, **अन्नम्** = अन्न का, **दुह्रताम्** = दोहन करें।

यहाँ ओषधियों का आकार रूप से वर्णन है तथा गौओं को इन ओषधियों का भक्षण कराके घृतादि पदार्थ ग्रहण करें, यह निर्दिष्ट किया है। मन्त्र का "**वीरुधाम्**" पद सामान्य रूप से ओषधि अर्थ में प्रयुक्त है। प्रतान विशिष्ट वनस्पतियों के लिए नहीं।

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ।।

अथर्व० ८।७।१३ ॥

अर्थात् **यावतीः** = जितनी, **च** = और, **कियतीः** = कितनी भी अर्थात् विभिन्न परिमाण वाली, **इमाः** = ये, **पृथिव्याम् अधि** = पृथिवी के ऊपर, **ओषधीः** = ओषधियाँ हैं, **ताः** = वे, **सहस्रपर्ण्यः** = सहस्र पत्तों वाली, हजार प्रकार से पोषण करने वाली, सफेद दूब आदि (**पॄ पालनपूरणयोः**), **मा** = मुझको, **मृत्योः** = मृत्यु से, **अंहसः** = पाप से, **मुञ्चन्तु** = छुड़ावें।

यहाँ पत्तों के आकार रूप से ओषधियों का वर्गीकरण है। और **"ओषधीः"** पद सामान्य अर्थ वाला है फलपाकान्त अर्थ वाला नहीं।

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः।।

अथर्व० ८।७।१६ ॥

अर्थात् **मुमुचानाः** = रोगों को छुड़ाने वाली, **ओषधयः** = ओषधियाँ हैं, वे, **वैश्वानरात् अग्नेः** = सब मनुष्यों को ले जाने वाले प्रेरक, अग्रगणी परमेश्वर से, **अधि** = अधिकृत होकर, **भूमिम्** = भूमि पर, **संतन्वतीः** = विस्तृत होती हुई, दूब, पुनर्नवा आदि लतायें, **इतः** = गई हुई हैं, **यासाम्** = जिन ओषधियों का, **राजा** = राजा, **वनस्पतिः** = सोम है (**सोमो वै वनस्पतिः**, मै० १।१०।९)।

परमेश्वर द्वारा विस्तृत की हुई जो ओषधियाँ हैं, जो रोगों को दूर करती हैं उनका फैलने के आकार रूप से वर्णन है। मन्त्र में आये **"ओषधयः"** एवं **"वनस्पतिः"** पद लोक प्रसिद्ध अर्थ वाले नहीं हैं।

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये।।

अथर्व० ८।७।२७ ॥

अर्थात् **पुष्पवतीः** = पुष्पों वाली, **प्रसूमतीः** = सुन्दर, कोमल, पल्लव, अंकुर वाली, **फलिनीः** = फल वाली, **उत** = और, **अफलाः** = फल रहित ओषधियाँ, **संमातरः इव** = सहयोगी माताओं के समान, **अस्मै** = इस रुग्ण मनुष्य के लिए, **अरिष्टतातये** = कल्याण के लिए, स्वास्थ्य के लिए, **दुह्राम्** = दूध देवें।

यह मन्त्र भी फूलों वाली, पल्लवों वाली, फलों वाली एवं बिना फल वाली ओषधियों का आकार भेद से वर्णन कर रहा है।

गुणभेद—

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये।।

अथर्व० ८।७।६

अर्थात् **जीवलाम्** = जीवन देने वाली, **नघारिषाम्** = कभी भी हानि न करने वाली, **जीवन्तीम्** = प्राण धारण करने वाली, गिलोय आदि,

अरुन्धतीम् = बाधा न डालने वाली, चोट आदि प्रहारों को भरने वाली, औंधाहेली, भँगरैला आदि, **उन्नयन्तीम्** = उन्नत बनाने वाली, **पुष्पाम्** = फूलों वाली, **मधुमतीम्** = माधुर्य रस वाली, **ओषधीम्** = ताप नाशक अन्नादि ओषधि को (**ओषद् (दहत्) धयन्ति इति वा, ओषति दहति एनाः धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा** निरु० ९।२६, **धेट् पाने**) **इह** = यहाँ, **अस्मै** = इस मनुष्य के लिए, **अरिष्टतातये** = कल्याण करने के लिए, **अहम्** = परमात्मा या वैद्य, **हुवे** = बुलाता हूँ, उपयोग में लाता हूँ।

इस मन्त्र में जीवन आदि देने वाली ओषधियों के गुणों का वर्णन है। मन्त्र का "**ओषधीः**" शब्द सामान्य वनस्पति वाचक है।

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि।।

अथर्व० ८।७।७ ।।

अर्थात् **प्रचेतसः** = चेतनता देने वाली, **मेदिनीः** = प्रीति करने वाली, (**ञिमिदा स्नेहने अच्, इनिः ङीष्**), रूक्षता हटाकर स्निग्धता प्रदान करने वाली ओषधियाँ, **इह** = यहाँ मेरे पास, **मम वचसा** = मुझ चिकित्सक के वचन के साथ अर्थात् विचार करने पर, **आयन्तु** = आवें, **यथा** = जिससे, **इमम् पुरुषम्** = इस मनुष्य को, **दुरितात् अधि** = कष्ट से ऊपर, दूर, **पारयामसि** = पार लगा दूँ।

यह मन्त्र भी ओषधियों के गुणों का वर्णन कर रहा है।

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः।।

अथर्व० ८।७।१० ।।

अर्थात् **याः** = जो, **उन्मुञ्चन्तीः** = रोग से मुक्त करने वाली, **विवरुणाः** = विशेष करके स्वीकार करने योग्य, **उग्राः** = तीक्ष्ण बल, गन्ध रसादि वाली, **विषदूषणीः** = विष हरने वाली, इलायची आदि, **अथ** = और, **यः** = जो, **बलासनाशनीः** = बल गिराने वाले, सन्निपात, कफ आदि को नाश करने वाली (**बल + असु क्षेपणे अण्, बलम् अस्यति क्षिपतीति = बलासः, तस्य नाशनीः इति बलासनाशनीः**), **च** = और, **कृत्यादूषणीः** = हिंसा, पीड़ा मिटाने वाली अजवाइन, लाक्षा, गुग्गुल आदि (**कृञ् हिंसायाम्, क्यप्, टाप्**), **ओषधीः** = ओषधियाँ हैं, **ताः** = वे, **आयन्तु** = आवें, प्राप्त होवें।

यहाँ पर विष नाशक ओषधियों के गुणों का वर्णन है। **"ओषधीः"** पद का पूर्ववत् सामान्य अर्थ है।

उत्पत्ति भेद—

अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः ।
व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ।।

अथर्व० ८।७।९ ॥

अर्थात् **अवकोल्बाः** = पीड़ा को जलाने वाली, नष्ट करने वाली, शैवाल, काई से युक्त **(अव हिंसायाम् वुन्, टाप्, उल्बम्-ऊर्णोतेः वृणोतेर्वा** निरु० ६।३६, **ऊर्णु या वृञ् + वन्, वस्य बः, रेफस्य लत्वम्, वकारस्य उत्वम् इति उल्बाः), उदकात्मानः** = जल जीवन वाली, जल कुम्भी, कमल, सिंघाड़ा आदि, **तीक्ष्णशृङ्ग्यः** = तीक्ष्ण काट करने वाली, तीक्ष्ण अग्रभाग वाली, गोखुरु आदि, **ओषधयः** = ओषधियाँ, **दुरितम्** = रोग को, **वि ऋषन्तु** = बाहर निकालें **(ऋषी गतौ)** ॥

यह मन्त्र जलीय ओषधियों का उत्पत्ति भेद से वर्णन करता है। **"ओषधीः"** पद सामान्यार्थक है।

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ।।

अथर्व० ८।७।१७ ॥

अर्थात् **आङ्गिरसीः** = अग्नि, विद्युत् आदि गुणों से युक्त, या अङ्गों में रस भरने वाली, **पर्वतेषु** = पर्वतों मे, **च** = और, **समेषु** = चौरस भू प्रदेशों में, **रोहन्ति** = उगती हैं, **ताः** = वे, **पयस्वतीः** = दुग्ध तथा रस वाली, **शिवाः** = कल्याण करने वाली, **ओषधीः** = ओषधियाँ, **नः** = हमारे, **हृदे** = हृदय के लिए, **शम्** = शान्ति दायक, **सन्तु** = होवें।

इस मन्त्र में पर्वतादि स्थानों में होने वाली ओषधियों का औत्पत्तिक भेद दर्शाया है। **"ओषधीः"** पद का अर्थ पूर्ववत् है।

ओषधि प्रधान भेद—

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ।।

अथर्व० ८।७।२० ॥

अर्थात् **अश्वत्थः** = वृक्षों में, पीपल, **दर्भः** = तृणों में, दाभ, काँस, **वीरुधाम्** = लताओं में **(विशेषेण रुन्धन्ति अन्यान् वृक्षान् इति वीरुधः)**, **सोमः** = सोमलता, **राजा** = ओषधिराज है, **अमृतम्** = 'प्राकृतिक द्रव पदार्थों में' जल **(अमृतमिति उदक नाम** निघ० १।१२), **हविः** = 'जङ्गमज वस्तुओं में' यज्ञीय घृत और 'अन्नों में', **व्रीहिः** = चावल, **च** = और, **यवः** = जौ, तथा **दिवस्पुत्रौ** = 'आकाशीय पदार्थों में' द्यौ लोक के पुत्र सूर्य और चाँद, **अमर्त्यौ भेषजौ** = अमर भेषज हैं, भय निवारक पदार्थ हैं, **(भेषं भयं जयति = भेषजम्)** ।

इस मन्त्र में अश्वत्थ दर्भ, सोमलता आदि को महा ओषधि के रूप में वर्णित किया है। **'वीरुधाम्'** पद वनस्पति सामान्यार्थ का द्योतक है।

ऋतु भेद—

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ।।

अथर्व० ८।७।८ ।।

अर्थात् **अग्नेः** = अग्नि का (जठराग्नि का), **घासः** = भोजन अर्थात् उसे बढ़ाने वाली, **अपां गर्भः** = जलों से परिपूर्ण, **याः** = जो, **पुनर्णवाः** = बार-बार नवीन ओषधियाँ, ऋतु-ऋतु में, **रोहन्ति** = उगती हैं वे, **ध्रुवाः** = दृढ़ गुणवाली, **सहस्रनाम्नीः** = हजारों नामों वाली, **आभृताः** = भली-भाँति पुष्ट की हुई, **भेषजीः** = भय निवारक ओषधियाँ, **सन्तु** = प्राप्त होवें।

मन्त्र में प्रति ऋतु में पुनः पुनः होने वाली ओषधियों का संकेत है, जो मनुष्य के लिए उपयोगी हैं तथा शरीर बल बढ़ाने वाली हैं।

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ।।

अथर्व० ८।७।२१ ।।

अर्थात् **पृश्निमातरः** = पृथिवी को माता मानने वाली, अर्थात् पृथिवी से उत्पन्न होने वाली **(इयं पृथिवी वै पृश्निः** तै०ब्रा० १।४।१।५), **ओषधीः** = ओषधियों, **उज्जिहीध्वे** = तुम खड़ी हो जाती हो, उत्पन्न हो जाती हो **(ओहाङ् गतौ)**, **यदा** = जब, **पर्जन्यः** = मेघ, **स्तनयति** = गरजता है, **अभिक्रन्दति** = कड़कता है और, **वः** = तुमको, **रेतसा** = जल से **(रेतः उदक नाम**, निघ० १।१२), **अवति** = तृप्त करता है **(अव तृप्तौ)** ।

इस मन्त्र में वर्षा ऋतु में होने वाली ओषधियों का संकेत है। "ओषधीः" सामान्यार्थक है।

उपयोग भेद—

वराहे वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ।।

अथर्व० ८।७।२३ ।।

अर्थात् **वराहः** = सूअर, **वीरुधम्** = ओषधि को, **वेद** = जानता है, **नकुलः** = नेवला, **भेषजीम्** = रोग जीतने वाली, भय दूर करने वाली ओषधि को, **वेद** = जानता है, **सर्पाः** = साँप और, **गन्धर्वाः** = गौ-पृथिवी को धारण करने वाले अर्थात् भूमि में बिल बनाकर रहने वाले, चूहे, छछुन्दर, गोह आदि प्राणी (**गौः इति पृथिव्याः नामधेयम्**, निघ० १।१), **याः** = जिन ओषधियों को, **विदुः** = जानते हैं, **ताः** = उनको, **अस्मै** = इस पुरुष के लिए, **अवसे** = रक्षा हेतु, मैं वैद्य अथवा परमेश्वर, **हुवे** = बुलाता हूँ, उपयोग में लाता हूँ।

मन्त्र में जंगली पशुओं, जन्तुओं द्वारा उपयोग में ली जाने वाली ओषधियों का उपयोग भेद से वर्णन है। यहाँ बताया गया है कि जिन कन्द आदि ओषधियों को सुअर आदि उपयोग में लाते हैं, बलिष्ठ बनते हैं, उनसे मनुष्यों को भी अपना उपचार करना चाहिए। मन्त्र में **"वीरुधं भेषजीम्"** पद पर्यायार्थक है।

याः सुपर्णाः आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ।।

अथर्व० ८।७।२४ ।।

अर्थात् **याः** = जिन, **आङ्गिरसीः** = अङ्गों में गति लाने वाली, तथा अग्नि विद्युत् आदि गुणों वाली ओषधियों को, **सुपर्णाः** = गरुड़, गिद्ध आदि, **याः दिव्याः** = जिन दिव्य ओषधियों को, रसायन पदार्थों को, **रघटः** = आकाश में उड़ने वाले पक्षी (**रघि गतौ + अच्, अट गतौ + क्विप् = रघटः, रघे गन्तव्ये आकाशे अटनशीलाः = रघटः**), **विदुः** = जानते हैं, **याः** = जिनको, **वयांसि** = पक्षी, चिड़िया, **हंसाः** = हंस, **च** = और, **याः** = जिन ओषधियों को, **सर्वे पतत्रिणः** = सभी पंख वाले जीव, **विदुः** = जानते हैं, **याः ओषधिः** = जिन ओषधियों को, **मृगाः** = वन्य पशु, **विदुः** = जानते

हैं, **ताः** = उन सबको, **अस्मै** = इस मनुष्य के लिए, **अवसे** = रक्षणार्थ, मैं परमात्मा या वैद्य, **हुवे** = बुलाता हूँ, उपयोग में लेता हूँ।

यह मन्त्र भी ओषधियों के उपयोग भेद का वर्णन कर रहा है। गरुड़ आदि पक्षी जिन ओषधियों को व्यवहार में लाते हैं तथा उनसे विष नाश, दूर दृष्टि, स्फूर्ति आदि का लाभ उठाते हैं उनसे मनुष्य को भी लाभ लेना चाहिए यह मन्त्र में स्पष्ट किया गया है। **"ओषधीः"** पद का पूर्ववत् सामान्य अर्थ है।

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ।।

अथर्व० ८।७।२५ ॥

अर्थात् **यावतीनाम्** = जितनी, **ओषधीनाम्** = ओषधियों का, **अघ्न्याः गावः** = न मारने योग्य गौंवे और, **यावतीनाम्** = जितनी ओषधियों का, **अजावयः** = भेड़ बकरियाँ, **प्राश्नन्ति** = चारा करती हैं, खाती हैं, **तावतीः** = वे सभी, **आभृताः** = भली-भाँति पुष्ट की हुई, **ओषधीः** = ओषधियाँ, **तुभ्यम्** = तुझ मनुष्य को, **शर्म** = सुख, **यच्छन्तु** = देवें।

इस मन्त्र में गाँव, नगर में रहने वाले पशुओं द्वारा चारा के रूप में उपयोग में आने वाली ओषधियों का वर्णन है। **"ओषधीः"** **"ओषधीनाम्"** पद सामान्य अर्थ वाले हैं।

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ।।

अथर्व० ८।७।२६ ॥

अर्थात् **यावतीषु** = जितनी ओषधियों में, **भिषजः मनुष्याः** = वैद्य लोग (**भिषज् चिकित्सायाम्, क्विप्-भिषक्**), **भेषजम्** = चिकित्सा, **विदुः** = जानते हैं, **तावतीः** = उतनी, **विश्वभेषजीः** = सब रोगों को जीतने वाली ओषधियों को, **त्वाम् अभि** = तुम्हारी ओर मैं परमात्मा और वैद्य, **आभरामि** = लाता हूँ।

मन्त्र में वैद्य जनों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली क्वाथ, कषाय, चूर्ण, अवलेह, भस्म आदि ओषधियों का वर्गीकरण है।

अथर्ववेद के उपर्युक्त सूक्त में विभिन्न प्रकार की ओषधियों का वर्गीकरण अपने ढंग का है। जिन ओषधियों को लोक में वनस्पति, वीरुध, ओषधि आदि अलग-अलग नामों से विभाजित करके जाना जाता है उन्हें वेद में रूप, रंग,

आकार, गुण, उत्पत्ति, ओषधि प्राधान्य, ऋतु एवं उपयोग के आधार पर विभाजित किया गया है।

तात्पर्य यह हुआ वेद में वनस्पति, वीरुध, ओषधि आदि शब्द जो उद्भिज पदार्थों का ज्ञान करा रहे हैं वे परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं, परस्पर जैसा कि मन्त्रों में आये वीरुध, वनस्पति आदि पदों से स्पष्ट है। यानि वनस्पति आदि शब्द फल वाले पौधों के लिए ही प्रयुक्त नहीं है अपितु सामान्यतः पौधे अर्थ में प्रयुक्त हैं, अर्थात् वे शब्द यौगिकता व्यापकता के अर्थ को लिए हुए हैं, यथा—

वनस्पति—

वनानां पाता वा पालयिता वा ।। निरु० ८।१।३ ।।

जो वन = जल को, रस को सुरक्षित रखते हैं वे वनस्पति हैं।

ओषधि—

ओषधय ओषद् (दहत्) धयन्तीति वा, ओषति एनाः धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा ।।

निरु० ९।३।२६ ।।

जलते हुए अर्थात् ताप को जो पीते हैं अथवा ताप में इनको पीते हैं तथा जो दोष को पीते हैं वे ओषधि हैं।

वीरुध—

वीरुध ओषधयो भवन्ति, विरोहणात् विशेषेण रुन्धन्ति रोहन्तीति वा वीरुधः ।।

निरु० ६।१।९ ।।

जो विशेष रूप से रोकते हैं या उगते हैं वे वीरुध हैं।

इन व्युत्पत्तियों के अनुसार इन शब्दों का पर्यायवाचित्व समुचित है। और उपर्युक्त विभाग ही वनस्पतियों का वेदोक्त वर्गीकरण है जिसे वेद से ही जानना चाहिए।

वैसे रोगानुसार, ओषधियों के निर्माणानुसार, अन्य कई और विभाग बन सकते हैं जो वस्तुतः ओषधियों के गुणादि वर्गीकरण में ही समाहित हो जाते हैं।



वेद ईश्वरीय ज्ञान क्यों ?

कसौटी पर कसा हुआ यह सुविदित तथ्य है कि ज्ञान किसी के द्वारा दिये जाने पर ही प्राप्त हुआ करता है, बिना दिये हुए नहीं। इस स्थिति में ज्ञान के अभाव में मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता, क्योंकि उसके पास मात्र स्वाभाविक ज्ञान है। जिसके द्वारा वह कुछ ही कार्य करने में समर्थ हो पाता है, जैसे—खाना-पीना, रोना-चिल्लाना आदि। बौद्धिक कार्य, पदार्थ ज्ञान तथा उनका उपयोग लेना तो बहुत ही दूर की बात है, क्योंकि मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान भी इतना अधूरा है कि जिन कार्यों को हम नित्य देखते हैं, करते हैं, जो बड़े सहज लगते हैं वे भी बिना सिखाये, बिना करके दिखाये, नहीं किये जा सकते और तो और मनुष्य का यह स्वाभाविक ज्ञान पशु की अपेक्षा से भी अधूरा है, पशु अपने इस स्वाभाविक ज्ञान से उत्पन्न होने के साथ ही चलना, खाना, तैरना आदि सभी क्रियायें अपने आप करने लगते हैं, और उसी ज्ञान पर सम्पूर्ण जीवन बिता लेते हैं, यहाँ तक कि विष की परीक्षा भी ये पशु बिना चखे कर लेते हैं।

राजर्षि चाणक्य ने राजाओं के भोजन का परीक्षण करने वाले पक्षियों का संकेत किया है—

शुकशारिका भृङ्गराजो वा सर्वविषशङ्कायां क्रोशति ।। ११ ।।
क्रौञ्चो विषाभ्याशे माद्यति ।। १२ ।।
ग्लायति जीवंजीवकः ।। १३ ।।
म्रियते मत्तकोकिलः ।। १४ ।।
चकोरस्याक्षिणी विरज्येते ।। १५ ।।
इत्येवम् अग्निविषसर्पेभ्यः प्रतिकुर्वीत ।।

कौटि० अर्थ० विनयाधिक० १।२०।१६।

अर्थात् अन्न आदि में विष की शंका होने पर तोता-मैना और भौंरा चिल्लाने लगते हैं। क्रौञ्च पक्षी विह्वल हो जाता है। जीवंजीवक खिन्न हो जाता

है। कोयल देखकर मर जाती है। चकोर पक्षी की आँखें लाल हो जाती हैं। इन सब उपायों के द्वारा राजा अग्नि, विष तथा सर्पों से अपना बचाव करे।

तात्पर्य हुआ कि पक्षी अपने स्वाभाविक ज्ञान द्वारा दर्शन मात्र से ही अन्नादि की परीक्षा करने में समर्थ है, पर मनुष्य बिना चखे नहीं जान सकता, उसका ज्ञान अधूरा है, अतः उसे नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता है। उस नैमित्तिक ज्ञान को स्वयं भी नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि वह अल्पज्ञ है। बिना ज्ञान दिये मनुष्य बोल भी नहीं सकता, इसके परीक्षण अकबर और असीरिया के राजा असुर वैनीपाल ने किये थे। और आज भी मनुष्य की इस असमर्थता को दस-ग्यारह मास के बच्चे के लालन-पालन करते हुए हम देख सकते हैं जो बोलने के लायक हो गया, लेकिन बिना बताये शब्दोच्चारण नहीं कर सकता।

उस ज्ञान को प्रकृति भी देने में असमर्थ है, क्योंकि वह जड़ है, पुनः उस ज्ञान को देने वाला, परमात्मा के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? परमात्मा ही ज्ञान देने में समर्थ है। वह ही सृष्टि के आदि में मनुष्यों के लिए ज्ञान देता है, जिससे कि वे शिक्षित होकर शिक्षा की परम्परा चला सकें एवं उत्तम व्यवहार कर सकें। परमात्मा ही ज्ञान दे सकता है, वह ही सबका गुरु है, इसकी समीक्षा करते हुए पतञ्जलि महर्षि ने योग दर्शन में लिखा—

(स एष) पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।। योग० १।२६ ।।

अर्थात् काल से बाधित न होने वाला वह परमपिता परमात्मा '**पूर्वेषामपि** = प्राचीन से प्राचीन गुरुओं का भी गुरु है, उपदेष्टा है। गुरुओं के गुरु परमात्मा प्रदत्त जो ज्ञान है, वह वेद है। परमात्मा प्रदत्त ज्ञान की वेद संज्ञा क्यों है? इसकी स्पष्टता महर्षि दयानन्द ने निम्न शब्दों में की है—

विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते,-लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः ।। ऋग्वेदादिवेदोत्पत्ति० ।

अर्थात् जिसके द्वारा सभी मनुष्य सभी सत्य विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, सुखों का लाभ प्राप्त करते हैं अथवा जिनको पढ़कर विद्वान् होते हैं, वे वेद हैं।

आचार्य सायण ने भी वेद शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा—

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोः अलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः ।।

सायण, कृष्णयजुर्वेद भा०भू० ।।

अर्थात् इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए जो ग्रन्थ अलौकिक उपाय को बताता है वह वेद है।

वेद शब्द की इन परिभाषाओं से भी स्पष्ट होता है कि यह ज्ञान वह ज्ञान है जिसको देने में परमात्मा के अतिरिक्त कोई भी सामर्थ्य नहीं रखता। परमात्मा की इस विशेषता का सुन्दर विवेचन सांख्य दर्शनकार महर्षि कपिल ने—**"मुक्तामुक्तयोः अयोग्यत्वात्"** सांख्य द० ५।४७ ।। के माध्यम से किया है। जीव चाहे मुक्त हो या अमुक्त अर्थात् जो जन्म-मरण के बन्धन से छूट गये हैं अथवा जीवन्मुक्त हैं, ऐसे किसी भी प्रकार के जीव वेद ज्ञान को देने में असमर्थ हैं।

'शास्त्रयोनित्वात्' वेदा० द० १।१।३ । वेदान्त दर्शन के इस सूत्र में परमात्मा को वेदशास्त्र का **योनि = कारण** बताया है। कहने का तात्पर्य हुआ वेद रूपी ज्ञान का और भाषा का देने वाला परमात्मा ही है अन्य नहीं। इस वेद ज्ञान को कल्याणकारी, परोपकारी परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में देता है, क्योंकि सृष्टि बनाते ही नियमशास्त्र का बनाना परम आवश्यक है। वेद सृष्टि के आदि में मिले, इस तथ्य को स्वयं वेद ही बताता है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ।।

ऋ० १०।७१।१ ।।

अर्थात् **बृहस्पते** = हे विद्वन्!, **प्रथमं** = सृष्टि के आदि में, **वाचः अग्रं** = समस्त वाणियों की मूल, **नामधेयं दधानाः** = सृष्टिगत सब पदार्थों के नामों को धारण करने वाली, **यत् = जिस वाणी को, प्रैरत** = विद्वान् लोग उच्चारण करते हैं, **यदेषां श्रेष्ठं** = जो इन सबमें श्रेष्ठ, तथा **यत् अरिप्रम् आसीत्** = जो दोष शून्य होती है, **तत्** = वह, **एषां** = ऋषियों की, **गुहा** = बुद्धियों में, **प्रेणा** = ईश्वर की प्रेरणा से, **निहितं** = रखी गई, **आविः** = प्रकट होती है।

मन्त्र से स्पष्ट हुआ कि वेदवाणी सृष्टि के आदि में प्राप्त होती है, और वह समस्त मानवीय वाणियों की मूल है, इस वेदवाणी से ही सभी भाषायें निकली हैं। सृष्टि के समस्त पदार्थों के नाम व कार्यों का निर्धारण इस वेदवाणी

के द्वारा ही होता है। यह वेदवाणी सर्वश्रेष्ठ है, बड़ी विस्तृत है, दोष रहित है, सम्पूर्ण संसार के लिए एक जैसी है। ऋषियों की गुहा में यह निहित है।

आकाशादि से उतरने वाली इलहाम रूप वाणी नहीं है। जो जन्म-जन्मान्तरों से परमात्मा से युक्त रहते हैं, ऐसे ऋषियों के द्वारा ही भगवान् की प्रेरणा से प्रकाशित होती है। ऋषि इस वेदवाणी को बनाते नहीं, प्रकट करते हैं।

इस वेद ज्ञान को परमात्मा समान रूप से सबको देता है, किसी देश या जाति विशेष के लिए नहीं। अपनी सार्वभौमता को वेद स्वयं स्पष्ट कर रहा है—

यथेमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्यः ०।। यजु० २६।२ ॥

अर्थात् परमात्मा कहता है कि इस कल्याणी वाणी को मैं जन-जन के लिए देता हूँ किसी एक या विशेष के लिए नहीं।

महर्षि मनु ने भी बड़े सुन्दर शब्दों में प्रतिपादित किया है कि वेद सभी लोगों का चक्षु है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ।।

मनु० १२।९४ ॥

अर्थात् ज्ञानी, विद्वान् और मनुष्यों का वेद सनातन चक्षु है, इसको कोई व्यक्ति नहीं बना सकता, और अङ्ग उपाङ्गों के बिना जाना भी नहीं जा सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से ज्ञात हुआ कि ज्ञान परमात्मा ने दिया है, वह सबके लिए है, सार्वभौम है, सबका मूल है। वेद ज्ञान के आधार पर ही जितने भी मत-मतान्तर हैं, उनके धर्मग्रन्थ कहे जाने वाले इञ्जील, बाइबिल, कुरान, पुराण, गुरुग्रन्थ साहब, त्रिपिटक आदि ग्रन्थ बने हैं। इन ग्रन्थों को सार्वभौम नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये ग्रन्थ मनुष्य कृत हैं, तथा भाषा-विशेष में बने हैं और जाति विशेष के लिए हैं, एवं ये ग्रन्थ सृष्टि के आरम्भ में नहीं बने, सभी ग्रन्थ महाभारत काल के पश्चात् के हैं, एवंविध ये ग्रन्थ ईश्वरीय ज्ञान और सार्वभौम नहीं हो सकते।

यदि इन ग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान माना जायेगा, तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन ग्रन्थों के निर्माण से पूर्व के लोगों को ज्ञान कैसे मिला ? क्योंकि इन सब ग्रन्थों का रचना काल लगभग ५००० वर्ष पूर्व का है, और ईश्वरीय

तथा सार्वभौम शिक्षा वह होती है जो सबको प्राप्त होती है। ईश्वरीय ज्ञान की परीक्षा निम्न बातों से की जा सकती है—

१. ईश्वरीय ज्ञान को सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकाशित होना चाहिए, अन्यथा पक्षपात का दोष लगेगा।
२. ईश्वरीय ज्ञान किसी देश विशेष की भाषा में नहीं होना चाहिये, जैसे—कुरान अरबी में, इञ्जील यूनानी में, बाइबिल हिब्रू में, जिन्दावेस्ता पहलवी में, गुरुग्रन्थ साहब गुरुमुखी में, त्रिपिटक प्राकृत भाषा में हैं, आदि।
३. ईश्वरीय ज्ञान में सब सत्यविद्याओं के मूल होने चाहिए अर्थात् सामाजिक, वैयक्तिक, राष्ट्रीय तथा ज्योतिष, गणित, संगीत, मनोविज्ञान आदि सभी विषय होने चाहिए।
४. ईश्वरीय ज्ञान में किसी व्यक्ति विशेष का इतिहास नहीं होना चाहिए। धर्मपुस्तक कहे जाने वाले ग्रन्थों में मोहम्मद, ईसा आदि व्यक्ति विशेषों की चर्चा है।
५. ईश्वरीय ज्ञान अपौरुषेय होना चाहिए।

ये सभी कसौटियाँ वेद पर ही खरी उतरती हैं। सृष्टि का प्रारम्भ हुए '१,९७,२९,४९,१०२' इतने वर्ष व्यतीत हो गये, इन वर्षों में होने वाले विद्वानों, ऋषि-महर्षियों तथा राम, कृष्ण आदि महापुरुषों के इतिहास बताते हैं कि इन लोगों ने वेदों का ही ज्ञान प्राप्त किया। वेद मनुष्य कृत नहीं है ईश्वर कृत हैं, सार्वभौम भाषा में हैं। तथा वेद ज्ञान की ही यह विशेषता है कि इसमें अन्य विषयों के साथ-साथ गणित, संगीत एवं मनोविज्ञान का विषय भी है, अन्य धर्मग्रन्थों में इनका अभाव है।

परमात्मा प्रदत्त वेद ज्ञान पूर्ण है, उसमें न्यूनता नहीं है, वह समयानुसार बदलता भी नहीं, यह सार्वकालिक है, नित्य है। वेद नित्य हैं इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—

स्वरवर्णानुपूर्वी देशकालनियतत्वात्। महाभाष्य ५।२।५९॥

अर्थात् वेद में आये अस्यवामीय आदि शब्दों के स्वर और उनकी वर्णानुपूर्वी नित्य है।

वेद ज्ञान कभी पुराना नहीं होता, न नष्ट होता है, तथोक्तम्—

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।

अथर्व० १०।८।३१ ॥

अर्थात् **देवस्य** = भगवान् के, **काव्यम्** = वेद रूपी काव्य को, **पश्य** = देखो, **न ममार** = न मरता है, **न जीर्यति** = न पुराना होता है।

तात्पर्य हुआ वेद ज्ञान सार्वकालिक है, उस पर देश काल परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता। वह सदा एक जैसा रहता है, उसका विनाश नहीं होता और उसमें अन्य ग्रन्थों की भाँति परिवर्तन भी नहीं किया जा सकता।

चारों वेदों का ज्ञान एक साथ मिला, आगे-पीछे नहीं। सर्वप्रथम ऋग्वेद का निर्माण हुआ, ततः अन्य वेद, यह कहना भी सर्वथा भूल है। चारों वेद एक साथ प्राप्त हुए, क्रमिक रूप से नहीं। इसमें वेद मन्त्र स्वतः प्रमाण हैं—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ।।

अथर्व० ११।७।३४ ॥

अर्थात् **पुराणं** = सदा नया (**पुराणम् - पुरा नवं भवति,** निरु० ३।४।१९) जो पहले से ही नया है वह, **ऋचः** = ऋग्वेद, **सामानि** = सामवेद, **छन्दांसि** = अथर्ववेद, **यजुषा सह** = यजुर्वेद के साथ, **सर्वे देवाः** = सभी प्रकाशक वेद, **दिविश्रितः** = मूर्धा के आश्रय वाले, **दिवि** = मूर्धा में, अर्थात् ऋषियों के मूर्धा में, **उच्छिष्टात्** = उच्छिष्ट अर्थात् सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से, **जज्ञिरे** = उत्पन्न होते हैं।

मन्त्र में चारों वेदों के नाम एक साथ आये हैं, वे सिद्ध करते हैं कि चारों वेदों का ज्ञान एक साथ प्राप्त हुआ है, क्रमिक व्यवस्था से नहीं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वेदों का विभाग व्यास आदि ने नहीं अपितु परमात्मा ने ही किया है। और मन्त्र का **'पुराण'** शब्द बता रहा है कि वेद का ज्ञान सदा नया रहता है, कभी पुराना नहीं होता, जो पूर्व से ही नया हो वह पुराण है। मन्त्र में यह भी बताया गया है कि वेद उच्छिष्ट से प्राप्त हुए हैं। उच्छिष्ट कौन होता है ? जो **उपरिष्टात् शिष्टः उच्छिष्टः, उत्** = ऊपर से, **शिष्टः** = बच रहे, **वह उच्छिष्ट है**। वेद का यह शब्द यौगिक है अतः लोकसदृश इसका 'जूठा' अर्थ नहीं है। परमपिता परमात्मा तीनों लोकों से ऊपर है, उनसे महान् है, उनका शासक है, अतः वह उच्छिष्ट है। उस उच्छिष्ट परमात्मा ने अपना

ज्ञान ऋषियों के द्यौलोकस्थानी मस्तिष्क गुहा में दिया। यह ज्ञान हाथ पसार कर प्राप्त होने वाला 'इलहामी' ज्ञान नहीं।

यह वेदवाणी ही सबके पठन-पाठन के योग्य है, तथा च—

तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद्वामा वो अश्नवत्।।

ऋ० १।४०।६ ।।

अर्थात् **हे देवाः** = हे विद्वानो !, **वः** = तुम लोगों के लिए, **विदथेषु** = ज्ञान यज्ञों में अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने के व्यवहारों में (**विदथः इति यज्ञनाम,** निघ० ३।१७), **तं** = उस, **अनेहसम्** = रक्षणीय, दोष-रहित, **शम्भुवम्** = कल्याण कारक, **तं मन्त्रम्** = उस मन्त्र को अर्थात् पदार्थों का मनन कराने वाले श्रुति समूह को, **वोचेम** = उपदेश देते हैं, **इत्** = निश्चय ही, **नरः** = हे मनुष्यो, **इमां वाचम्** = इस वेदवाणी को, **प्रतिहर्यथ** = बार-बार जानो, **च** = और, **विश्वा इत्** = सब ही, **वामः** = प्रशंसनीय सुन्दर ज्ञान, **अश्नवत्** = प्राप्त होवे।

मन्त्र में बताया गया है, जो कल्याण कारक तथा पदार्थों का ज्ञान कराने वाला वेद ज्ञान है, उसका ही पठन-पाठन होना चाहिए जिससे समस्त ज्ञान प्राप्त किया जा सके, क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञान वेदों में ही सन्निहित है, जैसा कि मनु महाराज ने लिखा है—

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। मनु० २।७ ।।

वेद में सब धर्म अर्थात् कर्त्तव्यों का प्रतिपादन है, क्योंकि वेद समस्त ज्ञान का स्रोत है।

अन्यच्च—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।।

मनु० २।५७ ।।

अर्थात् चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम तथा भूत, वर्तमान, भविष्य की सब व्यवस्थायें वेद से ही सिद्ध होती हैं, वेद ही इनका उद्‌गम स्थान है।

इस प्रकार समस्त मानवों को ईश्वरीय ज्ञान वेद ही धर्म-अधर्म, सत्यासत्य के विवेक के लिए पठनीय और मननीय है, अन्य मनुष्यकृत ग्रन्थ नहीं।



'ब्राह्मण' वेद नहीं, व्याख्यान ग्रन्थ हैं

वैदिक वाङ्मय को परिपुष्ट करने में ब्राह्मण ग्रन्थ भी अपना एक स्थान रखते हैं। उपलब्ध-अनुपलब्ध रूप से ब्राह्मण ग्रन्थ बहुसंख्या वाले हैं। वे वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं, पर उन्हें वेद कहने की किन्हीं शाखा विशिष्ट[1] जनों की परम्परा रही है, उनका ही अपना सिद्धान्त रहा है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद हैं, और आज भी यह भाव कि **'ब्राह्मण ग्रन्थ वेद हैं'** यह घर किये हुए हैं। जो भी हो, पर अनुसंधान, तर्क एवं युक्तियों से स्पष्ट है कि **'वेद'** यह उपाधि ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद माने जाते तो जिस प्रकार—

१. वेद में चारों वेदों के नाम आते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम भी वेदमन्त्रों में **'ऋचः, सामानि, यजुः, छन्दांसि'** इन नामों के साथ ऐतरेय, शतपथ आदि नाम भी आते।

२. तथा जैसे लोक में **'ऋग्, यजुः, साम, अथर्व'** इन शब्दों के साथ 'वेद' शब्द जुड़ा है अर्थात् **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद** इस प्रकार का पठन-पाठन किया जाता है, तद्वत् ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ आदि के साथ भी **'वेद'** शब्द लगाकर ऐतरेय वेद, शतपथ वेद आदि शब्दों का लोक में व्यवहार होता।

३. एवं जैसे चारों वेदों के पढ़ने वालों की लोक में ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी, अथर्ववेदी, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी उपाधियाँ होती हैं तदनु **पञ्चवेदी षड्वेदी** आदि किसी की भी उपाधियाँ आज तक न देखी न सुनीं ? इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हैं, अन्यथा यदि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद होते तो द्विवेदी आदि के सदृश **ऐतरेय वेदी आदि, पञ्चवेदी** आदि का व्यवहार अवश्य ही होता।

ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं इसकी सुस्पष्टता **भट्टभास्कर** ने इस प्रकार की है—

ब्राह्मणं नाम कर्मणः तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः ।।

तै०सं० १।५।१ ।।

---

१. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । कात्या० प्रातिशाख्य प्रतिज्ञापरिशिष्ट, बौधा०गृ०सू० २।६।३ ।।

अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ जो कर्म किया जा रहा है उसका तथा उस कर्म में विनियुक्त मन्त्रों का व्याख्यान ग्रन्थ है।

इसी प्रकार सायण ने भी तैत्तिरीय संहिता की भूमिका में लिखा है—

यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदस्तथाऽपि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्-मन्त्रा एवाऽऽदौ समाम्नाताः ।।

तै०सं० भू० सायण ।।

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यानग्रन्थ हैं, उनमें मन्त्रों के प्रतीक देकर विशिष्टार्थ खोला गया है। ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के भाष्य नहीं हैं अतः शब्दशः मन्त्रों का अर्थ नहीं किया गया है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ब्राह्मणग्रन्थ केवल याज्ञिक अर्थों के ही प्रतिपादक नहीं हैं अपितु विभिन्न ज्ञान-विज्ञान के द्योतक हैं। ऋषियों ने अपने द्वारा वेद के दृष्टार्थ को ब्राह्मण ग्रन्थों में आख्यान रूप में प्रस्तुत किया है। वे आख्यान-कथानक मन्त्रों के गहन गम्भीर रहस्यों को बताने वाले हैं, तथाहि—

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्त्तयः ।
विश्वा यदजयः स्पृधः ।।

ऋ० ८।१४।१३, यजु० १९।७१,
साम० २११, अथर्व० २०।२९।३ ।।

अर्थात् **अपाम्** = जल के, **फेनेन** = फेन अर्थात् झाग से, **नमुचेः** = नमुचि का, **शिरः** = सिर, **इन्द्रः** = इन्द्र ने, **उदवर्त्तयः** = काट डाला, **विश्वा** = सारे विश्व को, **यदजयः** = जीत लिया, **स्पृधः** = बल से।

यह मन्त्र चारों वेदों में आया हुआ है जिसकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ताण्ड्य ब्राह्मण में की गई है। इस मन्त्र के **'अपां फेनेन'** प्रतीक की व्याख्या करने से पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता ऋषियों ने कथानक का रूपक बाँधा है, ततः व्याख्या की है।

शतपथ ब्राह्मण—

इन्द्रस्येन्द्रियमन्नस्य रसम्। सोमस्य भक्षं सुरयाऽऽसुरो नमुचिरहरत्सोऽश्विनौ च सरस्वतीञ्चोपाधावच्छेपानोऽस्मि, नमुचये न त्वा दिवा न नक्तं हनानि, न दण्डेन न धन्वना न पृथेन न मुष्टिना न शुष्केण नार्द्रेणाथ मऽइदमहार्षीदिदम्मऽआजिहीर्षथेति ।। १ ।।

तेऽब्रुवन् । अस्तु नोऽत्राप्यथाहरामेति सह नऽएतदथाहरतेत्य ब्रवीदिति ।। २ ।।

तावश्विनौ च सरस्वती च । अपाम्फेनं वज्रमसिञ्चन्न शुष्को नार्द्रऽइति तेनेन्द्रो नमुचेरासुरस्य व्युष्टायां रात्रावनुदितऽआदित्ये न दिवा न नक्तमिति शिरऽउदवासयत् ।। ३ ।।

तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम् । अपाम्फेनेन नमुचेः शिरऽइन्द्रो-दवर्त्तयः विश्वा यदजय स्पृधऽइति पाप्मा वै नमुचिः पाप्मानं वाव तद्द्विषन्तं भ्रातृव्यं हत्वेन्द्रियं वीर्यमस्यावृङ्क्त..... ।। ४ ।।

शत०ब्रा० १२।७।३।१-४ ।।

शब्दार्थ—"नमुचि असुर ने सुरा के द्वारा इन्द्र के पराक्रम एवं अन्न के रस अर्थात् सोम के भक्षण को हरण कर लिया। ततः इन्द्र सरस्वती और अश्विओं के पास गया और कहा—मैंने नमुचि से प्रतिज्ञा की है कि मैं तुझे न दिन में न रात में, न डण्डे से, न धनुष से, न थप्पड़ से, न मुक्के से, न सूखी चीज से, न गीली चीज से मारूँगा। अब यह ये चीजें उठा ले गया है, उन्हें मुझे दिला दो। वे बोले इसमें हमारा भी कुछ भाग हो, तो हम दिला देंगे। इन्द्र बोला—ये चीजें हम सबकी होंगी, तुम दिला दो। उन अश्विओं और सरस्वती ने जल के फेन को वज्र बनाया, जो न सूखा था, न गीला। इन्द्र ने नमुचि असुर के सिर को जब रात बीत चुकी थी और दिन न निकल पाया था अर्थात् यह रात का या दिन का समय नहीं था, उस समय काट डाला।

इस सम्बन्ध में वेद ने कहा अपों के फेन से नमुचि के शिर को इन्द्र ने काटा, विश्व भर में विजय प्राप्त करली बल से।

पाप नाम नमुचि का है। दुष्ट पापी शत्रु को मार कर ही इन्द्र ने वीर्य और पराक्रम को प्राप्त किया। जिसके शत्रु हों, वह सौत्रामणी यज्ञ करें।"

शतपथ के इस कथानक में सौत्रामणी इष्टि के ग्रह-ग्रहण के अन्तर्गत **'अपां फेनेन'** मन्त्र का आध्यात्मिक विशिष्ट तात्पर्य स्पष्ट किया गया है जो बड़ा ही मननीय है, चिन्तनीय है।

इन्द्र जीवात्मा है और उसका ऐन्द्रनगर ११ इन्द्रियों से युक्त हमारा शरीर है। इसके अन्दर बहुत सारे शत्रु ईर्ष्या, द्वेष, काम, मोह, लोभ आदि बैठे हैं। इन शत्रुओं को बल देने वाली हमारी ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ एवं ११वाँ

मन है। उन शत्रुओं को इन्द्र जीवात्मा विचार-चिन्तन द्वारा हटा देता है, दूर कर देता है। यही इन्द्र का असुरों को जीतना है। इन दुर्गुणों के हटने पर गुणों के साथ-साथ सबसे बड़ा शत्रु नमुचि = **(न मुञ्चति इति नमुचिः)** अहंकार आक्रमण कर लेता है, उस शत्रु से जीवात्मा का छूटना बड़ा कठिन होता है, वह नमुचि सोम[1] को अर्थात् जो परमात्मा का रस है, आनन्द है प्राप्त करने में कठिनता पहुँचाता है, बाधा कर देता है, परमात्मा के आनन्द को प्राप्त होने नहीं देता और इन्द्रियों का पराक्रम भी घटने लगता है, यही नमुचि का सोम हरण है तब इन्द्र **'अपाम्फेनेन' (अपः इति कर्मनाम,** निघ० २।१) कर्मों के द्वारा उसके सिर को काट देता है और सारे विश्व को बल से जीत लेता है। वे कर्म कौन से हों ? इसका स्पष्टीकरण प्रकृत ब्राह्मण ने ही किया है। वे कर्म हैं **सरस्वती और अश्विओं की शरण।**

सरस्वती वाक् को कहते हैं **(सरस्वती इति वाङ्नाम,** निघ० १।११) अश्विनौ अहोरात्र को कहते हैं, **"तत् कौ अश्विनौ ? अहोरात्रावित्येके"**, निरु० १२।१।१, इनका काल आधी रात के पश्चात् जो अंधकार को फाड़कर ज्योति का प्रवेश होता है वह काल है अर्थात् अर्ध रात्रि से लेकर सूर्योदय पर्यन्त अश्विनौ काल कहा जाता है, **(तयोः काल ऊर्ध्वमर्द्धरात्रात् प्रकाशीभावस्य अनुविष्टम्भम्,** निरु० १२।१।१) इस प्रकार **"सोऽश्विनौ च सरस्वतीञ्चोपाधावत्"** इस ब्राह्मण वाक्य का तात्पर्य है जब इन्द्र जीवात्मा **सरस्वती = वेदवाणी** के द्वारा अश्विनौ काल में सोमरूप परमात्मा की उपासना करता है, तब उसका अहंकार, अभिमान दूर हो जाता है, नमुचि से छुटकारा मिल जाता है और विश्व का विजेता बन जाता है अतः मन्त्र में कहा—**"विश्वा यदजय स्पृधः"** ।

सोम परमात्मा की प्राप्ति अश्विनौ काल में करनी चाहिए, इसका दिग्दर्शन ऋक् मन्त्र में बड़ा ही सुन्दर किया गया है—

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम् ।
अस्य सोमस्य पीतये ।।

ऋ० १।२२।१ ॥

मन्त्र का तात्पर्यार्थ है, **अश्विनौ** = अश्विनी काल में, **प्रातः** = प्रथमतः पहले, **युजा** = युक्त होवे, समाधिस्थ होवे **(युज समाधौ), विबोधय** = उसको विशिष्ट रूप से जानें, और, **इह गच्छताम्** = समीप जावें, **अस्य** = इस, **सोमस्य** = शान्तिदायक ब्रह्म की, **पीतये** = प्राप्ति के लिए।

---

१. ब्रह्मणो वा एतत् तेजो यत् सोमः ॥ काठ० सं० १४।६ ॥

मन्त्र से स्पष्ट है शान्तिदाता परमेश्वर अश्विनी काल में समाधिस्थ होने पर प्राप्त होता है और वह हमारे शरीर एवं इन्द्रियों में आनन्द भरता है।

शतपथ के इस स्थल में आगे बताया गया है कि जो भी अपनी रक्षा करना चाहे उसे सौत्रामणी याग करना चाहिए। इस याग का सौत्रामणी नाम इसलिए पड़ा, यतोहि **अश्विनी और सरस्वती ने इन्द्र को बचाया,** उसे सोम से युक्त किया। इन्द्र का रक्षण **'सुत्रात'** कहा गया और इन्द्र विषयक इष्टि सौत्रामणी हुई, तथाहि—

ते देवा अब्रुवन्, सुत्रातं वतैनमत्रासातामिति तस्मात् सौत्रामणी नाम।

शत०ब्रा० ५।५।४।१२॥

अर्थात् देवों ने कहा—अच्छा बचाया, इन दोनों ने इसे बचा लिया अतः इसका नाम सौत्रामणी हुआ।

दूसरी बात यह है कि **'सुत्रामा'** इन्द्र कहा जाता है, ऋ० १०।१३१।६-७ तथा यजु० १९।८५, २०।५१, में **"इन्द्रः सुत्रामा" "स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रः"** इन्द्र के विशेषण रूप में सुत्रामा शब्द प्रयुक्त है। तो इस प्रकार इन्द्र का इस इष्टि से सम्बन्ध होने के कारण भी इसे सौत्रामणी कहते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण—

इन्द्रो वृत्रं हत्वा असुरान्पराभाव्य नमुचिमासुरं नालभत, तं शच्या गृह्णात्, तौ समलभेताम्, सोऽस्मादभिशुनतरोऽभवत्, सोऽब्रवीत् संधां संदधावहै, अथ त्वा वः स्रक्ष्यामि, न मा शुष्केण नाऽऽर्द्रेण हनः, न दिवा न नक्तमिति स एतमपां फेनमसिञ्चत्, न वा एष शुष्को, नाऽऽर्द्रो व्युष्टासीत्, अनुदितः सूर्यः न वा एतद्दिवा न नक्तं, तस्यैतस्मिँल्लोके अपां फेनेन शिर उदवर्त्तयत्, तदेनमन्ववर्त्तत मित्रध्रुगिति, स एतानपामार्गानजनयत्, तानजुहोत्, तैर्वै स रक्षांस्यपाहत ।। तै०ब्रा० १।७।१।६-७॥

शब्दार्थ—"इन्द्र ने वृत्र को मारकर असुरों को पराजित कर दिया, पर नमुचि नामक असुर को प्राप्त नहीं किया। नमुचि को उसने शक्ति से पकड़ लिया, वे दोनों मिल गये। इन्द्र नमुचि से बड़ा हो गया। नमुचि से बोला हम सन्धि कर लेते हैं। नमुचि ने कहा, मैं तुझे छोड़ दूँगा, तुम मुझे न सूखे से, न गीले से मारो, न दिन में, न रात में। उस इन्द्र ने अपों के इस फेन

को उस पर छिड़का जो न गीला था, न सूखा। दीप्त था, सूर्य उदित नहीं था, यह न दिन था, न रात, उसका इस लोक में फेन से सिर उड़ गया, वह मित्रध्रुक् उस इन्द्र के पीछे-पीछे आया, इन्द्र ने अपामार्गों को उत्पन्न किया, उनसे आहुति दी। उनके द्वारा इन्द्र ने राक्षसों का हनन किया।''

तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस स्थल में **पृथिवी की नौ उत्पत्तियों[१] में से प्रथम उत्पत्ति** तथा **ओषधि विज्ञान के रहस्य को** स्पष्ट किया गया है।

पृथिवी पक्ष में–इन्द्र परमात्मा है, वृत्र अंधकार रूप सलिलावस्था[२] है। नमुचि कुहासा[३] जो जल मिश्रित वाष्प है, वह है। परमात्मा ने अपनी ईक्षण शक्ति से सलिलावस्था में, अग्नि को स्थापित किया, यही वृत्र का मारना है। अग्नि द्वारा सलिलावस्था में जो वाष्प बना, वही नमुचि है क्योंकि जहाँ जल और अग्नि होंगे वहाँ वाष्प अवश्य होगा। जल के अधिक[४] तप्त होने पर अत्यधिक जो वाष्प बना, वह फेन हुआ। उस फेन के ठण्डा हो जाने पर, जो मलाई रूप हो गया, यही फेन से नमुचि का सिर कटना है। वह फेन = शीतल वाष्प न सूखा है, न गीला। और जब इस फेन की उत्पत्ति हुई, उस समय न रात्रि[५] का ज्ञान था, न दिन का, न सूर्य बना था। इस फेन को अन्यत्र शर कहा है, उससे ही पृथिवी[६] बनी यह कहा है। उस फेन ने परमात्मा का मित्रध्रुक् रूप से अनुवर्त्तन किया अर्थात् वह फेन परमात्मा के पृथिवी कार्य में मित्रध्रुक् = स्नेह रहित था, घनत्व रहित था। तब परमात्मा ने **अपामार्ग (अप+आङ्+मृज् शौचालङ्कारयोः+घञ्)**, अग्नि एवं मरुतों को उत्पन्न किया, उनके संगतिकरण से वाष्प रूपी राक्षसों को नष्ट कर दिया। उन राक्षसों का नाश पृथिवी के मृद्रूप[७] में सहायक हुआ।

---

१. स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत.....। स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषसिकतं शर्करामश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नव सृष्टयः ॥ शत०ब्रा० ६।१।१।१३-१४ ॥

२. तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। ऋ० १०।१२९।३ ॥

३. कुह कस्य० ॥ ऋ० १०।१२९।१ ॥

४. ता अतप्यन्त ताः फेनमसृजन्त तस्मात् अपां तप्तानां फेनो जायते। शत०ब्रा० ६।१।३।२ ॥

५. न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ॥ ऋ० १०।१२९।२ ॥

६. आपो वा अर्कः तद्यदपां शरऽ आसीत् तत् समहन्यत, सा पृथिव्यभवत्। शत०ब्रा० १०।६।५।२ ॥

७. स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति। शत०ब्रा० ६।१।३।३ ॥

ओषधि पक्ष में–इन्द्र विद्युत्, सूर्य एवं जीवात्मा है, वृत्र मेघ है और नमुचि रोग जन्य दुर्बलता शक्तिहीनता है। ग्रीष्म काल में या अन्य काल में गर्मी = पित्त की वृद्धि होने पर अत्यन्त भूख लगना, हर समय प्यास की अनुभूति होना आदि जो रोग कोटि में आते हैं, जब ये गम्भीर रूप धारण कर लेते हैं, तो उससे जनित जो दुर्बलता है, उसका दूर होना बड़ा कठिन हो जाता है। उस समय इन्द्र विद्युत् मेघ को मारता है और असुरों को जीतता है अर्थात् मेघ द्वारा वर्षा कर शीतल वातावरण बना के, असुर = प्राणघातक जो रोग थे, उनको पराभूत करता है, (**असुरिति प्राणनाम आस्तः शरीरे भवति,** निरु० ३।२।७), अर्थात् अति क्षुधा, तृषा रूप आदि रोगों को दूर करना ही असुर विजय है, पर रोगजन्य दुर्बलता रूपी नमुचि असुर तो रह ही जाता है, उस दुर्बलता को दूर करना न अत्यन्त शुष्क ओषधियों से सम्भव है, और न अत्यन्त आर्द्र ओषधियों से, अपितु जो **"अपां फेनेन"** अर्थात् जलमिश्रित अवलेह रूप ओषधि है उससे ही दूर किया जा सकता है, यही जलमिश्रित ओषधि से दुर्बलता दूर करना ही नमुचि के ऊपर फेन का सिञ्चन है, और उस नमुचि का सिर कटना है। यह अवलेह रूप ओषधि अनुदित सूर्य के सदृश होती है अर्थात् अत्यधिक रूक्ष नहीं होती, उस सिर के जीवात्मा के पीछे-पीछे आने का तात्पर्य उस दुर्बलता की पुनरावृत्ति होना है। उसकी पुनरावृत्ति न हो इसके लिए अपामार्ग ओषधि को विद्युत् या सूर्य जल द्वारा वर्षा काल में सर्वप्रथम उत्पन्न करते हैं। अपामार्ग सर्व-संशोधक है, उससे दुर्बलता की निवृत्ति हो जाती है। अपामार्ग की इसी महनीयता के कारण **"अपामार्ग इष्टि"** का विधान बताया गया है।

अथर्ववेद के ४ काण्ड के १७वें सूक्त में अपामार्ग की विशेषता बताई गयी है—

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे।।

अथर्व० ४।१७।६ ।।

अर्थात् **अपामार्ग** = हे अपामार्ग शोधक परमात्मा और ओषधि!, **त्वया** = तुम्हारे द्वारा, **वयं** = हम, **क्षुधामारम्** = भूख लगने का, **तृष्णामारम्** = प्यास लगने का रोग है, और **अगोतम्** = गौओं अर्थात् पशुओं की हानि, अभाव, **अनपत्यताम्** = बच्चों के न होने का इन्द्रिय दोष है, **तत् सर्वम्** = वह सब, **अप मृज्महे** = दूर करते हैं।

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ।।

अथर्व० ४।१७।७ ।।

अर्थात् **अपामार्ग** = हे अपामार्ग शोधक परमात्मा एवं ओषधि !, **त्वया** = तुम्हारे द्वारा, **वयम्** = हम, **तृष्णामारम्** = प्यास की पीड़ा, **क्षुधामारम्** = भूख की पीड़ा, **अथ** = और, **अक्षपराजयम्** = आँख की शक्ति की न्यूनता है, **तत् सर्वम्** = वह सब, **अप मृज्महे** = दूर करते हैं।

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी ।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ।।

अथर्व० ४।१७।८ ।।

अर्थात् **अपामार्गः** = अपामार्ग सर्वशोधक, **सर्वासामोषधीनाम्** = सभी ओषधियों में, **एक इद्वशी** = एक ही वश में करने वाला है, **तेन** = उससे, **ते** = तुझ, जीवात्मा के, **आस्थितम्** = उपस्थित रोगों को, **मृज्म** = शुद्ध करते हैं, **अथ** = पश्चात्, **त्वम्** = तू, **अगदः** = नीरोग होकर, **चर** = विचरण करे।

अर्थात् अपामार्ग ओषधि सब ओषधियों में कान्ति तेज देने वाली तथा उदर रोग, आँव और रुधिर विकार आदि को दूर करने वाली ओषधि है जिसके द्वारा मनुष्य नीरोग होकर गति करने में समर्थ हो जाता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण—

इन्द्रश्च वै नमुचिश्चासुरः समदधातां, न नो नक्तन्न दिवाऽहनन्नाऽऽर्द्रेण न शुष्केणेति, तस्य व्युष्टायामनुदित आदित्येऽपां फेनेन शिरोऽछिनदेतद्वै न नक्तं, न दिवा, यत् व्युष्टायामनुदित आदित्य एतन्नाऽर्द्रन्न शुष्कं यदपां फेनः..... ।। ता०ब्रा० १२।६।८ ।।

शब्दार्थ—इन्द्र और नमुचि असुर ने सन्धि कर ली हम दोनों में कोई भी न रात को, न दिन को मारेगा, तथा न गीले से न सूखे से। इस प्रकार सन्धि करने पर, इन्द्र ने 'व्युष्टायाम् = उषा काल में सूर्य के उदित न होने पर, जो न गीला था, न सूखा ऐसे अपों के फेन से नमुचि का सिर काट दिया।

ताण्ड्य ब्राह्मण के इस कथानक में **आधिदैविक रहस्य** छिपा हुआ है। इन्द्र सूर्य है, नमुचि उषा काल है, अपों का फेन ओस है। यह आख्यायिका

सूर्योदय से पूर्व जो उदय काल का समय है उसका आलङ्कारिक ढंग से वर्णन कर रही है।

तात्पर्य हुआ जब तक उषा काल नहीं होगा, तब तक सूर्योदय होना असम्भव है, अर्थात् इन्द्र = सूर्य की उत्पत्ति उषा के बाद ही होती है। तो जब तक इन दोनों का मेल नहीं होगा, प्रकाश होना कठिन है तो उषा का पूर्व आगमन ही इन्द्र और नमुचि की सन्धि करना है। उस नमुचि-उषा का सिर **"अपाम्फेनेन"** जलों के फेन से (**अपः इति उदक नाम,** निघ० १।१२) अर्थात् ओस से काट दिया, यानी ओस के आने पर उषा काल आ जाता है पश्चात् सूर्य का उदय होता है। सूर्य का उदय होना ही नमुचि का सिर कटना है। इस सूर्योदय की दैविक घटना का मनोहारी वर्णन इस स्थान पर किया गया है।

उपर्युक्त ब्राह्मण ग्रन्थों के वचनों में **"अपां फेनेन"** मन्त्र के इस प्रतीक के विभिन्न आख्यानों में विविध रहस्यों को बताया गया है, जो मन्त्र के व्यापकार्थ को स्पष्ट कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य वेद मन्त्रों के भी गूढ़ रहस्यों को ब्राह्मणग्रन्थों में ऋषियों ने दर्शाने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार एक मन्त्र के विविध व्याख्यानों को देखकर भली-भाँति सिद्ध होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान स्रोत हैं, वेदों में सन्निहित ज्ञान-विज्ञान को स्पष्ट करने वाले हैं, वे केवल याज्ञिक प्रक्रिया के ही पोषक नहीं हैं, अपितु समस्त ज्ञान को प्रकाशित करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की इस व्याख्यान विशेषता को समझते हुए उनमें व्याख्यात मन्त्रार्थों की व्यापकता को जानने का प्रयास करना चाहिए और यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि **"ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के व्याख्यान हैं, वेद नहीं।"**



वेदों में सरस्वती कौन ?

वेदों में नदियों के ३७[१] नाम आये हुए हैं, उन नामों में **'सरस्वती'** नाम भी है, वे नदी नाम पार्थिव नदियों के वाचक नहीं हैं। वेदों के जितने भी शब्द हैं, वे सभी यौगिक हैं, या योगरूढ़ि, रूढ़ि नहीं, अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय को मिलाकर के शब्द निष्पन्न हुए हैं, वे किसी एक निश्चित अर्थ को बताने वाले नहीं होते, अपितु व्यापक अर्थ को कहते हैं, अतः उन शब्दों को किसी निश्चित अर्थ में नहीं लगाया जा सकता, यथा—लोक में **गौ** शब्द का प्रयोग देखते हैं जिसका गाय पशु अर्थ हम जानते हैं, पर वेद के कोष निघण्टु, निरुक्त के द्वारा हमें ज्ञात होता है कि इसके बहुत सारे अर्थ[२] हैं—

गौः = पृथिवी, पशु गौ, गो सम्बन्धी दूध, घी आदि, धनुष की ज्या, आदित्य, रश्मि आदि।

इसी प्रकार सरस्वती आदि नाम भी विभिन्न अर्थों को कहते हैं। निरुक्त में सरस्वती शब्द का निर्वचन यास्क महर्षि ने इस प्रकार किया है—**''सर इति उदकनाम, सर्तेः, तद्वती सरस्वती'**, निरु० ९।३।२४॥ अर्थात् उदक सम्बन्ध वाले को सरस्वती कहते हैं। तो एवंविध उदक से उत्पन्न होने के कारण **विद्युत् सरस्वती कहलाई, सूर्य किरणें भी सरस्वती हैं,** गति एवं विद्युत् युक्त होने से। उदक वाला होने से अन्य कोई भी पदार्थ सरस्वती कहा जायेगा। नदी भी जल वाली होने से सरस्वती

---

१. अवनयः। यव्याः। रवाः। सीराः। स्रोत्याः। एन्यः। धुनयः। रुजानाः। वक्षणाः। खादोअर्णाः। रोधचक्राः। हरितः। सरितः। अग्रुवः। नभन्वः। वध्वः। हिरण्यवर्णाः। रोहितः। सस्रुतः। अर्णाः। सिन्धवः। कुल्याः। वर्यः। उर्व्यः। इरावत्यः। पार्वत्यः। स्रवन्त्यः। ऊर्जस्वत्यः। पयस्वत्यः। **सरस्वत्यः**। तरस्वत्यः। हरस्वत्यः। रोधस्वत्यः। भास्वत्यः। अजिराः। मातरः। नद्यः। निघ० १।१३॥

२. गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरङ्गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति (२) अथापि पशूनामेह भवत्येतस्मादेव (३) अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति (४) ज्यापि गौरुच्यते (५) आदित्योऽपि गौरुच्यते (६) अथाप्यस्यैको रश्मिः......... सोऽपिगौरुच्यते॥ निरु० २।२।६॥

कहलायेगी, शरीरस्थ नाड़ियाँ भी सरस्वती हैं रक्त रूप, जल वाली होने से। वेद में वाणी को भी सरस्वती कहते हैं क्योंकि **"सर इति वाङ्नाम"**, (निघ० १।११), और सृ का अर्थ गमन है, वाणी इतस्ततः पहुँचती है शब्दों के उच्चारण में, अतः वह सरस्वती है। कहने का तात्पर्य हुआ **वेदों में आये सरस्वती, नदी आदि शब्द जो प्रयाग आदि में नदियाँ हैं, उनके वाचक नहीं हैं, अपितु विशिष्ट अर्थ को कहने वाले हैं।**

पृथिवीस्थ नदी की सरस्वती यह संज्ञा वेद के शब्दों को लेकर हुई है। महाभारत काल तक मेरे देश की ऐसी परम्परा रही है कि पृथिवीस्थ जड़-चेतन सभी पदार्थों के नाम वेदों से लेकर रखे जाते थे। इस नामाभिधान प्रक्रिया का मनु महाराज ने बहुत स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवाऽदौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।।

मनु० १।२१॥

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में वेद से शब्द लेकर सभी संज्ञायें तथा प्रवृत्तियाँ चलीं और नदी, पर्वत, मनुष्य आदि सभी पदार्थों के नामकरण वेद के शब्दों को लेकर ही रखे गये।

वेदों में पृथिवीस्थ सरस्वती नदी का वर्णन है, आदि कथन, अमर कोष आदि अनार्ष ग्रन्थों को पढ़ने वाले संस्कृतज्ञों तथा भाष्यकार सायणाचार्य, उवट, महीधर आदि की, पाश्चात्य भाष्यकार मैक्समूलर, कीथ, मैक्डालन आदि आधुनिक विद्वानों की कृपा का परिणाम है, जिन्होंने वेदों में सरस्वती आदि शब्द देखकर उनके साथ पार्थिव नदियों का सम्बन्ध बिठा लिया और वैसे ही गपोड़े हाँक दिये, तथा उन लोगों ने ही आर्यों के बाहर से आगमन के प्रसङ्ग में सरस्वती नदी का वेग से प्रवाहित होने का कथानक भी जोड़ दिया।

वेद में सरस्वती शब्द अनेकधा आया हुआ है, उपर्युक्त भाष्यकार पत्थरों से टकराकर सरस्वती नदी जोरों से बही, यह अर्थ जिस ऋचा का करते हैं, वह इस प्रकार है—

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः।।

ऋ० ६।६१।२॥

प्रस्तुत ऋचा अन्तरिक्ष के जल वर्षण के सूक्ष्मतम क्रिया की द्योतिका है। अन्तरिक्ष से जल द्यौलोक में किस प्रकार से जाता है और वहाँ से भूमि पर किस विध आता है, इसे ही ऋचा में बड़ी उत्तमता से दर्शाया है।

अर्थात् **इयं** = यह, **शुष्मेभिः** = बलों से (**शुष्मम् इति बलनाम,** निघ० २।९), **तविषेभिः ऊर्मिभिः** = बड़ी-बड़ी तरङ्गों से (**तविष इति महन्नाम,** निघ० ३।३), **सुवृक्तिभिः धीतिभिः** = भली प्रकार, छिन्न-भिन्न करने वाली, सुपुष्ट मजबूत क्रियाओं से (**वृजी वर्जने**), **विसखा इव** = कमलनाल को खोदने वाले के समान, **गिरीणाम्** = मेघों के, (**गिरि इति मेघनाम,** निघ० १।१०), **सानुः** = शिखर को, उन्नत प्रदेशों को (**सानु समुच्छ्रितं भवति समुन्नुन्नम् इति वा,** निरु० २।७।१), **अरुजत्** = भङ्ग करती है (**रुजो भङ्गे**), उस, **पारावतघ्नीम्** = आर-पार को नष्ट करने वाली, **सरस्वतीम्** = विद्युत् को, **अवसे** = रक्षा के लिए, **आविवासेम** = सेवन करें।

मन्त्र का तात्पर्य हुआ जब विद्युत् मेघों के ऊँचे-ऊँचे पर्वत समान समुदायों को तोड़ती है, तभी जल नीचे आता है और वही जल पार्थिव नदियों के कूलों को तोड़कर नष्ट कर देता है। उस **सरस्वती = सरः = उदक से उत्पन्न विद्युत्** की पृथिवीस्थ पदार्थों की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि वर्षा के चार मासों के जल से पार्थिव पदार्थों का आठ मास तक पोषण होता है।

वेद के शब्दों की गूढ़ता को न समझकर सायणाचार्य आदि ने पार्थिव नदी परक सरस्वती शब्द का नदी अर्थ करके वेदार्थ सङ्कुचित कर दिया और यही अर्थ मैक्डालन आदि ने भी वैदिक मैथालॉजी आदि ग्रन्थों में लिख मारा और सर्वत्र जड़-चेतन पदार्थों का इतिहास वेदों में है, यह प्रतिपादित किया जिसका आधुनिक इतिहास लेखकों ने भरपूर उपयोग किया और सरस्वती का अर्थ पार्थिव नदी कर बैठे।

इस मन्त्र का उपर्युक्त आधिदैविक अर्थ निरुक्त का भाष्य करते हुए स्कन्द स्वामी ने इन शब्दों में लिखा है—

गिरयो मेघाः, ऊर्मयः स्तनयित्नवः, पारावते द्यावापृथिव्यौ। हन्तिर्गतिकर्मा। गमनेन पूरणं लक्ष्यते, द्यावापृथिव्यौ शब्देन पूरयित्रीम्। स्कन्द भाष्य निरु० २।७।१ ॥

स्कन्द स्वामी ने अपने इन वाक्यों में **सरस्वती = विद्युत्** के कार्यों को बताया है, साथ ही, पारावतघ्नीम् शब्द का महत्वपूर्ण विवेचन किया है कि वह विद्युत् द्यावापृथिवी में गमन करने वाली है, अर्थात् तीनों लोकों में व्याप्त है, अपनी इस व्यापन शीलता से मेघों के समुदाय के तटों को तोड़कर जल का संप्रेषण करने में समर्थ होती है, और विद्युत् अपने शब्दघोष से पृथिवी एवं द्यौलोक को भर देती है।

तात्पर्य हुआ विद्युत् जल वाली है, जल को देने वाली है, जल में उत्पन्न होने वाली है एवं शब्द करने वाली है।

और **जब सरस्वती शब्द का आधिभौतिक नदी यह अर्थ किया जायेगा, तब सरस्वती शब्द किसी विशिष्ट जल वाली नदी का वाचक नहीं होगा, अपितु सामान्य नद्यर्थ को ही कहेगा, और मन्त्र नदी के स्वरूप को बताने वाला होगा कि**—नदियाँ इस-इस प्रकार की होती हैं, वे **गिरि = पर्वतों** से निकलती हैं और अपनी बड़ी-बड़ी लहरों से, कूलों को, तटबन्धों को तोड़ देती हैं, जो मनुष्य के लिए सिञ्चन क्रिया के कारण रक्षण योग्य होने से, सेवन योग्य होती हैं।

इस मन्त्र का जब आध्यात्मिक अर्थ करेंगे तब **सरस्वती** का अर्थ **वाणी** होगा, जो शब्दों के बड़े-बड़े उच्चारणों से, अज्ञान के मेघों को, उसके कूलों को तोड़ देती है, और वही सरस्वती वाणी बुद्धियों के द्वारा रक्षा करती है अतः मनुष्य के लिए सेवनीय होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि **सरस्वती शब्द के विद्युत्, किरण, नदी, नाड़ी, वाणी आदि अनेक अर्थ हैं, नदी विशिष्ट अर्थ नहीं,** क्योंकि भारत में ही सैकड़ों नदियों के नाम सरस्वती हैं, तो कैसे जाना जायेगा कि अमुक सरस्वती नदी का मन्त्र में वर्णन है। मन्त्र में सरस्वती नाम के साथ स्थान विशेष का नाम नहीं है, अतः नदी विशेष का ग्रहण नहीं होगा।

इस प्रकार हमें वेद के सरस्वती आदि शब्दों को देखकर बहकना नहीं चाहिए, अपितु निघण्टु, निरुक्त के आधार पर उन मन्त्रों का विविधार्थ, विशिष्टार्थ जानना चाहिए।



वेद तथा उपनिषद् की दृष्टि में ब्रह्म और जीव

ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीन सत्ताओं के संगठन का नाम ब्रह्माण्ड है। इस ब्रह्माण्ड का रचयिता ईश्वर है, ब्रह्माण्ड के पदार्थों का उपभोग करने वाला जीव है, एवं ब्रह्माण्ड की उपभोग की वस्तुएँ व साधन प्रकृति से बनते हैं। इस तथ्य को वेद, उपनिषदादि वैदिक ग्रन्थों में भली-भाँति सुस्पष्ट किया गया है—

ओ३म् द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।

ऋ० १।१६४।२०, मुण्ड०उप० ३।१।१, श्वेता०उप० ४।६ ॥

अर्थात् **द्वा** = दो, **सुपर्णा** = अच्छे पंख वाले, सुन्दर कर्म वाले (**पॄ पालनपूरणयोः** जिससे किसी की सिद्धि हो, पूर्णता हो वह कर्म सुपर्ण कहायेगा), **सयुजा** = समान सम्बन्ध रखने वाले, **सखाया** = समान ख्याति वाले मित्र, **समानम्** = एक ही, **वृक्षम्** = वृक्ष को, **परि षस्वजाते** = प्राप्त हैं, आश्रित हैं, **तयोः** = उनमें से, **अन्यः** = एक, **पिप्पलम्** = फल को, **स्वादु** = स्वाद से, **अत्ति** = खाता है, और, **अन्यः** = दूसरा, **अनश्नन्** = न खाता हुआ, भोग न करता हुआ, **अभिचाकशीति** = सब ओर देखता है।

अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति ये तीन अनादि सत्तायें हैं, उनमें जीव और परमात्मा का परस्पर मित्रवत् सम्बन्ध है। वे दोनों इस वृक्ष रूपी प्रकृति पर बैठे हैं, उन मित्रों में जीव मित्र, प्रकृति रूपी वृक्ष के **पिप्पल** = फल को खाता है, उसका उपभोग करता है और दूसरा मित्र परमात्मा ब्रह्म, प्रकृति के फलों का उपभोग नहीं करता, अपितु प्रकृति और जीव जो भोग्य और भोक्ता हैं, उन दोनों को मात्र देखता है, उनका द्रष्टा है, स्रष्टा है।

परमात्मा की भोग न करने की इस विशेषता को दर्शाने के लिए, उसके महत्व को प्रतिपादित करने के लिए उपनिषदों में ब्रह्म को **'भूमा'** रूप से वर्णित किया गया, यथा—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति ।
भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः ।।

छान्दो०उप० ७।२३।१ ॥

अर्थात् **यः वै** = जो ही, **भूमा** = भूमा है, बड़ा है, असीम है, **तत्** = वह ही सुखप्रद है, **न** = नहीं, **अल्पे** = थोड़े में, **सुखमस्ति** = सुख है उस, **भूमा** = महान् अपरिमित को, **तु एव** = ही, **विजिज्ञासितव्यः** = जानना चाहिए ।

तात्पर्य हुआ परमात्मा महान् है, सीमा से परे है क्योंकि वह सबको बनाता है, वह ही सुखदाता है । प्रकृति तथा जीव अल्प हैं, छोटे हैं, परिमित सीमा वाले हैं, परमात्मा के बिना वे दोनों ही कार्य नहीं करते ।

वह निर्माता ही ब्रह्म है, जैसा कि वेद में कहा—"**अकारि ब्रह्म समिधान तुभ्यम्,** ऋ० ४।६।११" अर्थात् **समिधानः** = दीप्त, **तुभ्यम्** = तुझ जीव के लिए, **ब्रह्म** = परमात्मा ने, यह संसार, **अकारि** = बनाया है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा—

अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति, तं होवाच, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ।। तै०उप० ३।१ ॥

अर्थात् अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के पश्चात् जिससे ये जीवित रहते हैं, जिसमें लौट जाते हैं, सो जाते हैं, वह ब्रह्म है ।

जगन्नियन्ता निर्माता ब्रह्म वह सर्वोच्च सत्ता है, जिसका अवलम्बन कर किसी प्रकार का भय या शोक नहीं रहता, क्योंकि वह जीव का कवच है—

ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ।। साम० १८७२, ऋ० ६।७५।१९ ॥

अर्थात् मुझ जीव के अन्दर ब्रह्म कवच रूप में विद्यमान है ।

उस ब्रह्म की महत्ता को, बड़प्पन को नवीन वेदान्तियों ने "**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**" ऐसे वाक्यों द्वारा प्रतिपादित किया तथा "**जीवो ब्रह्मैव नापरः**" अपनी इस वेदविरुद्ध परिभाषा से जीव और ब्रह्म को ऐसा मिलाया कि उसकी पहचान करना भी कठिन हो गया । जबकि लोक में आत्मा-परमात्मा, जीवात्मा-परमात्मा, ब्रह्म-परब्रह्म, पुरुष-परमपुरुष, ईश्वर-परमेश्वर इत्यादि दोनों के

विभेदक[१] शब्द हैं, तथापि लोक भेद नहीं कर पाया, वह भूल गया कि परमात्मा कौन है, और जीवात्मा कौन है ?

लेकिन वेद एवं उपनिषदों में भली प्रकार से जीवात्मा और परमात्मा का भेद बताया है—

ब्रह्म का स्वरूप—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

यजु० ४०।१ ॥, ईशोप० १ ॥

अर्थात् ईश वह परमेश्वर है, जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है, तात्पर्य हुआ व्यापक सत्ता का नाम परमेश्वर है।

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः० ।। यजु० ४०।८, ईशोप० ८॥

अर्थात् वह परमात्मा सब जगह गया हुआ है, दीप्त है, निराकार है, छिद्र रहित है, नस नाड़ी के बन्धनों से मुक्त है, पवित्र है, शुद्ध है, पाप रहित है, मेधावी है, मननशील है, सर्वव्यापक है तथा बिना किसी साधन और निमित्त के स्थित है, अपने आप उत्पन्न है, उसे कोई उत्पन्न करने वाला न था, न है, न होगा।

तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः ।।

तै०उप० २।५ ॥

उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न परमात्मा आनन्दमय है।

---

१. (१) आत्मा तथा ब्रह्म आदि शब्दों से परमात्मा तथा जीव दोनों का ग्रहण होता है, क्योंकि अतन = सातत्य गमन एवं बृहत्व न्यूनाधिक दोनों में होता है, तब परम शब्द द्वारा जीव से परमात्मा का भेद किया जाता है, यतोहि **'परमं पदम्'** यजु० ६।५ में उस जगन्नियन्ता के लिए **'परमं'** शब्द आया है।

(२) और आत्मा की जब **''सातत्येन अतति इति आत्मा''** यह व्युत्पत्ति होगी, तब परमात्मा अर्थ होगा, जब **''अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति स आत्मा''** यह व्युत्पत्ति होगी तब जीवात्मा अर्थ होगा।

(३) ब्रह्म का निर्वचन यास्क महर्षि ने इस प्रकार किया है—**''ब्रह्म परिवृढं सर्वतः''** निरु० १।७ ॥ इस निर्वचन का परमात्मा पक्ष में अर्थ होगा जो **सबसे बड़ा है वह ब्रह्म है। जीव पक्ष में अर्थ होगा 'जो ब्रह्म से अन्य पदार्थ हैं, उनकी अपेक्षा से जो बड़ा है वह ब्रह्म है यानि जीव।**

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।।

यजु० ३२।३, श्वेता०उप०४।१९ ।।

उस परब्रह्म की कोई प्रतिमा नहीं, जिसका नाम महद्यश है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद् वै तत् ।।

कठोप०४।१२ ।।

अर्थात् अङ्गुष्ठमात्र रूप पुरुष परमात्मा है, वह जीवात्मा के अन्दर बैठा है, वह भूत, भविष्य और वर्तमान काल का स्वामी है, जिसको जानने पर ग्लानि नहीं होती, वह ब्रह्म है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुः अमृतास्ते भवन्ति ।।

श्वेता०उप० ३।१३ ।।

अर्थात् वह अङ्गुष्ठ परिमाण वाला पुरुष परमात्मा जीवों के हृदयों में सन्निविष्ट है। इसे हृदय से, बुद्धि से और मन से पाया जाता है, जो यह जानते हैं, वे अमरपन को प्राप्त होते हैं।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ।।

श्वेता०उप० १।९ ।।

अर्थात् **द्वौ** = दो, **अजौ** = अजन्मा हैं, उनमें एक, **ज्ञः** = ज्ञानी है, वह ब्रह्म है, **एक अज्ञः** = अज्ञानी है वह जीव है। **एक ईशः** = शासक है, सामर्थ्य वाला है, दूसरा **अनीशः** = अशासक है, न्यून सामर्थ्य वाला है उस, **भोक्ता** = भोक्ता अशासक के लिए, **एका अजा** = एक जन्म रहित प्रकृति, **हि** = निश्चय से, **भोग्यार्थयुक्ता** = भोगने योग्य है। **च** = और, **अनन्तः** = अनन्त, **आत्मा** = परमात्मा, **विश्वरूपः** = संसार को विश्वरूप देने वाला, **हि** = निश्चय से, **अकर्त्ता** = बन्ध के कारण कर्म का न करने वाला है। **त्रयम्** = ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों में, **यदा** = जब जीव, **एतद् ब्रह्मम्** = इस ब्रह्म को, **विन्दते** = प्राप्त कर लेता है, तब ब्रह्म को पहुँचा हुआ कहा जाता है, अर्थात् ज्ञानी परमात्मा से अज्ञानी जीव भिन्न है।

प्रज्ञानं ब्रह्म ।। ऐत०उप० ३।३ ।।

अर्थात् ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप है।

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवम् आत्मा आत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।।

श्वेता०उप० १।१५ ।।

अर्थात् जैसे तिलों में तेल, दही में घृत, स्रोतों में जल, एवं अरणियों में अग्नि होती है। इन सबकी उपलब्धि तिलों को पीटने से, दही को बिलोने से, स्रोतों को खोदने से, अरणियों को रगड़ने से होती है, वैसे ही जीवात्मा में परमात्मा निहित है, उस जीवात्मा में ही उसका ग्रहण होता है। वह जीवात्मा इसे सत्य से, तप से, अपने अन्दर जानता है, देखता है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि वह परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है, एक देखने वाला है, जानने वाला है, दूसरा दीखने वाला है, ज्ञेय है। परमात्मा ज्ञेय है, जीवात्मा ज्ञाता है।

जीव स्वरूप—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।।

यजु० ४०।२, ईशोप० २ ।।

यहाँ वेद का आदेश है कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। वह इच्छा करने वाला कौन होगा ? जीवात्मा ही, क्योंकि ऊपर ब्रह्म स्वरूप में ब्रह्म को **अकाय** कहा है, शरीर वाला नहीं। तब जीना-मरना ये कार्य जीव के लिए ही प्रयुक्त होंगे, तथाहि—

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः, पाप्मभिः संसृज्यते, स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति।।

बृहद्०उप० ४।३।८ ।।

अर्थात् जब यह जीवात्मा शरीर से युक्त होता है, तब जन्मा हुआ कहा जाता है, तथा पाप से युक्त होता है और जब शरीर से उत्क्रमण करता है, तब मरा हुआ कहा जाता है, यानि पाप को छोड़ता है।

जोषि ब्रह्म जन्यम्।। ऋ० २।३७।६ ।।

अर्थात् उत्पादक ब्रह्म सेवनीय है। यदि ब्रह्म ही ब्रह्म होता, तो कौन किसको सेवेगा ? अतः ब्रह्म से अतिरिक्त जीव है, जो ब्रह्म का सेवन करता है।

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ।। छान्दो० ८।७ ।।

वह परमात्मा अन्वेष्टव्य है, जिज्ञासितव्य है अर्थात् उस परमात्मा को देखने वाला जीव है, क्योंकि दो वस्तुओं के रहने पर ही अन्वेष्टा-अन्वेषक ये पृथक्-पृथक् कथन बन सकते हैं।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।

मुण्ड०उप० ३।१।३ ।।

अर्थात् तब विद्वान् अपने पाप-पुण्य के समुदाय को हटाकर निरञ्जन, निष्कलंक परब्रह्म के साम्य को प्राप्त होता है। तात्पर्य हुआ जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न है और वह परमात्मा को पाने का प्रयत्न करता है।

प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः ।। बृहदा०उप० ४।३।३५ ।।

अर्थात् यह जीवात्मा **प्राज्ञः** = परमात्मा के आश्रित है।

इस प्रकार वेद, उपनिषद् आदि वाङ्मय में ब्रह्म = जीवात्मा का और परब्रह्म = परमात्मा का भेद बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बताया है, साथ ही गुण, कर्म, स्वभाव आदि भी बताये गये हैं।

इन दोनों का परस्पर का सम्बन्ध नदी और समुद्र के समान है, यथा—

यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य..... पुरुष इत्येवं प्रोच्यते।

प्रश्नोप० ६।५ ।।

अर्थात् जैसे नदियाँ समुद्र को प्राप्त होकर अपने नाम और अस्तित्व को मिटा देती हैं, वैसे ही जीवात्मा जब परमात्मा को उपासना द्वारा प्राप्त कर लेता है, अपने अस्तित्व को मिटाकर परमात्मा से तादात्म्य सम्बन्ध कर लेता है, तब पुरुष रूप होता हुआ, **अमृतो भवति** = अमर हो जाता है, कर्मानुसार जन्म मरण के चक्कर से छूट जाता है, यानि जीवात्मा की प्राण, तप, श्रद्धा आदि १६ कलायें[1] अकल = कला रहित परमात्मा को प्राप्त हो जाती हैं।

तात्पर्य हुआ जीवात्मा परमात्मा का अंश नहीं है, दोनों पृथक्-पृथक् सत्तायें हैं। जब दोनों का तादात्म्य उपासना द्वारा एक हो जाता है, यानि अन्यों

---

१. स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपोमन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ।। प्रश्नोप० ६।४ ।।

की अपेक्षा जिस जीव का परमात्मा से सम्बन्ध हो जाता है, वह कह उठता है **"अहं ब्रह्मास्मि"** बृहदा०उप० १।४।१०, मैं ब्रह्म हूँ, अर्थात् ब्रह्मस्थ हूँ। यहाँ तात्स्थ्योपाधि है, जैसे **"मञ्चाः क्रोशन्ति"** इसका अर्थ होता है, मचान पर स्थित लोग बोलते हैं, न कि मचान, वैसे मैं ब्रह्म नहीं अपितु ब्रह्म में स्थित हो गया हूँ। **यह ब्रह्मस्थता दो प्रकार की होती है–एक मुक्ति दशा की, दूसरी समाधि अवस्था की।**

जीव के ब्रह्मस्थ स्वरूप को छान्दोग्योपनिषद् में **'स आत्मा तत्त्वमसि'**, छान्दो० ६।८।७। इन शब्दों में कहा गया है अर्थात् **सः** = वह, **आत्मा** = परमात्मा, **त्वम्** = तू, जीव, **असि** = है, तात्पर्य हुआ जब जीवात्मा स्थूल शरीर को छोड़कर परमात्मा से युक्त होता है, तब मानो वह परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यहाँ **'तत्'** पद अधिकरण का वाचक है।

इसी प्रकार **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, छान्दो०उप० ३।१४।१ ॥ का अर्थ हुआ—यह ब्रह्म सब ही है, यानि किसी पात्र में जल और नमक मिले हुए रखे हों, उसमें नमक की अधिकता होने से उस अधिकता को दर्शाने के लिए कह देते हैं कि यह तो सब नमक है तद्वत् प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म की व्यापकता दर्शाने के लिए कह दिया उपनिषद्कार ने, कि ब्रह्म सब ही है। उपनिषद् के इस गम्भीर आशय को नवीन वेदान्ती नहीं जान सके और **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** आदि शास्त्रविरुद्ध मनघढ़न्त मान्यतायें बना कर रख दीं, जिन्होंने सबको ब्रह्म से बहुत दूर कर दिया, वस्तुतः ब्रह्म वह सत्ता है, जिसको जानना, पहचानना मानव जीव का कर्त्तव्य है।

"ब्रह्मैवेदं विश्वम्", मुण्ड०उप० २।२।११ ॥ इस उपनिषद् वाक्य का भी वही गम्भीर अर्थ है, जो छान्दोग्योपनिषद् का है, तो इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के इस वचन का अर्थ हुआ कि यह संसार ब्रह्म ही है, क्योंकि उसने ही सबको उत्पन्न किया है, दीप्त किया है। ब्रह्म की उत्पादकता को श्रुति के शब्द स्पष्ट कर रहे हैं—**'जुषन्तेदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः'**, ऋ० ७।३५।१४ ॥ अर्थात् वह संसार की रचना करने वाला है, जो सदा नूतन है, उस ब्रह्म का सेवन करें।



वेदान्त और दयानन्द

सृष्टि का निमित्त कारण जो परमात्मा है, उसे देखने के लिए, उसके गुणों को, कार्यों को एवं स्वरूप को बताने के लिए ऋषियों, मुनियों और योगियों ने जितनी माथा-पच्ची की है, सम्भवतः सृष्टि में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसको ढूँढ़ने में, पहचानने में उतनी कठिनता हुई हो, श्रम पड़ा हो। सचमुच वह कैसी अजीब वस्तु है जिसका कार्य प्रतिपल हमारे समक्ष है और वह दृष्टिगत नहीं ? वह निरन्तर हमारे समक्ष है, उसका कोई स्पर्श नहीं ? जिसके बिना जीवों के शरीर की सृष्टि, जीवों के साधनों की सृष्टि असम्भव है उसका कोई रूप नहीं ? ऐसी अगम्य शक्ति को हमारे चिन्तकों ने नये-नये नाम देकर उसकी पहचान कराने की कोशिश की। शंकराचार्य ने अद्वैतमत स्थापित कर, भास्कर ने भेदाभेद सिद्धान्त के द्वारा, रामानुज ने विशिष्टाद्वैत शब्द से, मध्व = आनन्द तीर्थ ने द्वैत = ब्रह्म सम्प्रदाय खड़ा करके, निम्बार्काचार्य = नियमानन्द ने द्वैताद्वैत की परिभाषा से, श्री कण्ठ ने शैव विशिष्टाद्वैत कथन से, श्रीपति ने वीरशैवविशिष्टाद्वैत मत से, वल्लभ ने शुद्धाद्वैत पक्ष से उस अगोचर परमात्मा के स्वरूप को जन-जन को बताने के लिए अपने मन्तव्य स्थापित कर दिये और साथ ही जीव नामधारी चेतन सत्ता को ईश्वर का प्रतिनिधि बना डाला, और जीव और ब्रह्म एक है इसके प्रतिपादन में ग्रन्थों के ढेर लगा दिये। इस ढेर में दबे वक्ता-श्रोता दोनों ही **''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः''** की ढपली बजाते हुए, जीव ब्रह्म का अंश है इसका डिण्डिम घोष करते हैं।

ये सभी वाद, सभी मत-मतान्तर शंकराचार्य के अद्वैत मत के परिप्रेक्ष्य में खड़े हुए, वस्तुतः ये सभी बखेड़े एक दूसरे के खण्डन के लिए उपजे। जगद्गुरु महर्षि दयानन्द ही सर्व हितकारी महान् पुरुष थे जिन्होंने इन सभी मतों की विभिन्नताओं को हटाने के लिए वेद प्रतिपादित **त्रैतवाद** को हमारे समक्ष रखा जिसे ज्ञान विदग्ध जनों ने खण्डन नाम दिया, जबकि महर्षि का सिद्धान्त हमारा मण्डन था, भूषण था।

सृष्टि में ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीन अनादि सत्ताओं का ही खेल है। प्रकृति वह है जिसके बिना यह सृष्टि संरचना हो नहीं सकती। जीव वह है जिसके लिए संरचना हुई है और जिसके बिना बनाये कुछ बन नहीं सकता वह ईश्वर है, परमात्मा है। एक का कार्य दूसरा नहीं कर सकता, दूसरे का कार्य तीसरा नहीं कर सकता, तीनों अपने-अपने कार्यों में लगे हुए हैं। इस बात को ऋग्वेद में बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है—

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिः ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्।।
ऋ० १।१६४।४४ ।।

मन्त्र में तीनों कारणों को **"केशिनः"** शब्द से कहा गया है केश रश्मि को कहते हैं, प्रकाश को कहते हैं, तद्वान् केशी हुए (**केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति, काशनाद् वा,** निरु० १२।३।१४) क्योंकि इन तीनों में प्रकाशकत्व गुण है।

अर्थात् **त्रयः** = तीन, **केशिनः** = प्रकाश गुण वाले अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति, **ऋतुथा** = ऋतु अनुकूल अर्थात् अपने-अपने समय पर, **विचक्षते** = अपने व्यवहार कार्यों को दिखाते हैं, **एषाम् एकः** = इन तीनों में एक, **संवत्सरे** = महत् अण्ड के रूप में, **वपते** = उत्पन्न होता है (**डुवप बीज सन्ताने छेदने च**), तो यह उत्पन्न होने वाला तत्व प्रकृति है, जीव या ब्रह्म नहीं। **एकः शचीभिः** = और एक अपने कर्मों से (**शचीति कर्मनाम,** निघ० २।१), **विश्वम्** = संसार भर को अर्थात् अनेक योनियों को, स्थानों को, **अभिचष्टे** = प्राप्त होता है, सुख-दुःख रूप भोगों को अनुभव करता है वह तत्व जीव है। इसका कार्य न तो जड़ प्रकृति कर सकती है, न ही परमात्मा। **एकस्य ध्राजिः** = एक तत्व की गति (**ध्रजि गतौ**), **ददृशे** = दीखती है, **रूपम् न** = पर रूप नहीं। वह तत्व ईश्वर है क्योंकि वह नीरूप, निराकार है, अतः किसी को भी दृष्टिगोचर नहीं होता, प्रकृति और जीव में इसका ही रूप दीखता है।

इन तीनों तत्त्वों का प्रतिपादन वेदों में बहुधा किया गया है। इनको भली-भाँति जानने-जनाने के लिए षड् दर्शनों का निर्माण हुआ। वेदान्त दर्शन तो पदे-पदे इन तीनों तत्त्वों की पृथक्ता, कार्य क्षमता, विलक्षणता, विशिष्टता को स्पष्ट करता है। जीव और ब्रह्म एक नहीं हो सकते, चाहे जीव मुक्त

हो, अमुक्त हो, वह कभी भी ब्रह्म रूप या ब्रह्म का अंश नहीं हो सकता। दर्शनों के निर्माण काल तक अंश-अंशीवाद बड़ी प्रचुरता के साथ समाज में स्थापित हो चुका था, अतः इन वादों को दर्शनों में पूर्वपक्ष के रूप में दर्शाया गया है। जीव ब्रह्म का अंश है इस पूर्वपक्ष के रूप में वेदान्त दर्शन का—**"एक आत्मनः शरीरे भावात्"** वेदा० ३।३।५५ इस सूत्र को उपस्थित किया जाता है।

शरीरे = अर्थात् पृथिव्यादि शरीरों में, **एकः** = एक ही, **आत्मनः** = ब्रह्म के, **भावात्** = व्यापक होने से, जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं है अर्थात् जीव ब्रह्म का अंश है। इस कथन की पुष्टि में—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो,
यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्।।

बृह०उ० ३।७।३ ॥

उपनिषद् का यह वाक्य दिया जाता है कि पृथिवी रूप शरीर में एक ही आत्मा है। इसी प्रकार—

अंशो नानाव्यपदेशात् अन्यथा चापि दाशकितवादित्त्वमधीयत एके।

वेदा० २।३।४३ ॥

मन्त्रवर्णाच्च। वेदा० २।३।४४ ॥

तथा—

अपि च स्मर्यते। वेदा० २।३।४५ ॥

आदि सूत्रों को प्रस्तुत किया जाता है। पर वेदान्त दर्शन की सुदृढ, सुस्पष्ट अन्तःसाक्षियों से स्पष्ट है कि जीव ब्रह्म से पृथक् है अंश नहीं। तथाहि—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्त्वात् न तु उपलब्धिवत्।।

वेदा० ३।३।५६ ॥

अर्थात् **तद्** = उस ब्रह्म के, **भावः** = सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वसामर्थ्य इत्यादि गुणों के, **अभावित्वात्** = न पाये जाने वाला होने से जीव, **(अभावः यस्मिन् अस्तीति अभावी तस्य भावः अभावित्वम्, तस्मात् अभावित्त्वात्), व्यतिरेकः** = (ब्रह्म से) पृथक् है, **तु** = क्योंकि, **उपलब्धिवत्** = ब्रह्म प्रतिपादक प्रकरणों में कहे गये वचनों के समान, **न** = जीव के लिए वचन उपलब्ध न होने से अर्थात् विषय वाक्यों में ब्रह्म के जो गुण कथन किये हैं तद् सदृश जीव के न होने से, तथाहि—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।

ऋ० १।१६४।२० ॥

इस वेद मन्त्र में '**तयोः**' तथा '**अन्यः**' पद आये हुए हैं, तथा '**अनश्नन्**' '**अभिचाकशीति**' क्रिया पद आये हैं उनसे दोनों की **पृथक्ता** द्योतित हो रही है यदि ब्रह्म और जीव एक होते तो, '**अन्यः**' आदि पद तथा पृथक् क्रिया पद प्रयुक्त न होता।

एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः ।।

बृहदा० ३।७।३ ॥

हे गौतम! यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी है, इस वाक्य में '**ते**' शब्द षष्ठ्यन्त है यदि जीव और ब्रह्म एक होते तो '**ते**' यह षष्ठ्यन्त पद प्रयुक्त न होता, क्योंकि षष्ठ्यन्त पद का प्रयोग भेद करण में होता है, अभेद करण में नहीं।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।।

बृहदा०उप० २।४।५ ॥

परमात्मा ज्ञान चक्षु से देखने योग्य, श्रुति वाक्यों से सुनने योग्य, श्रुत्यनुसारी तर्कों से मनन करने योग्य तथा बार-बार ध्यान करने योग्य है। उपनिषद् के इस वाक्य से भी स्पष्ट है कि कोई अन्य होगा जो श्रवणादि करेगा, वह जीव ही है, अतः जीव ब्रह्म से पृथक् है।

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।। वेदा० २।१।२२ ॥

अर्थात् **भेदनिर्देशात्** = भेद का निर्देश पाये जाने से ब्रह्म जीव से, **अधिकम्** = बड़ा है, पृथक् है, **तु** = निश्चय से, यथा—

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ।। छा०उप० ८।७।१ ॥

अर्थात् वह परमात्मा खोजने योग्य, जानने योग्य है। जानने वाला और जानने योग्य दोनों पृथक्-पृथक् ही हो सकते हैं, एक नहीं।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।। वेदा० २।१।२३ ॥

अर्थात् **च** = और, **अश्मादिवत्** = पत्थर जैसे ब्रह्म नहीं बन सकता वैसे **तदनुपपत्तिः** = जीव भी ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि जिस प्रकार अश्मादि अत्यन्त विजातीय पदार्थ हैं उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से अत्यन्त विजातीय पदार्थ है, वह कदापि ब्रह्म नहीं बन सकता और न ब्रह्म कभी जीव बन सकता है।

इस प्रकार **नानाव्यपदेशात्** वेदा० २।३।४३ आदि सूत्रों द्वारा जीव को ब्रह्म का अंश सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है, वह वेदान्तदर्शन की अन्त:साक्षियों के विरुद्ध होने से उचित नहीं है। अंश का अर्थ एकदेश है जैसा कि अगले ही सूत्र **"मन्त्रवर्णाच्च"** वेदा० २।३।४४, में शंकराचार्य ने लिखा है—

"अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरम्" अर्थात् अंश, पाद, भाग ये तीनों ही एक अर्थ वाले हैं। तो अंश का अर्थ भाग = एक देश यह अर्थ हुआ। अंश शब्द का एक देश अर्थ होने पर उपर्युक्त सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

नानाव्यपदेशात् = जीव भिन्न-भिन्न हैं और **अंशः** = वे जीव ब्रह्म के एकदेश में रहने वाले हैं यदि जीव उसका टुकड़ा होता तो जीव एक जैसे होते, या **नानाव्यपदेशात्** जीव और ब्रह्म का **सोऽन्वेष्टव्यः** आदि वाक्यों में भिन्न-भिन्न कथन है, अतः जीव ब्रह्म से पृथक् है टुकड़ा नहीं, उसके **अंश** = एकदेश में रहने वाले हैं।

अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके = और कई लोग दाश इत्यादि को भी **ब्रह्मदाशा, ब्रह्मदासा, ब्रह्मवैते कितवाः** आदि वाक्यों में ब्रह्म कथन करते हैं, वहाँ भी ब्रह्म के एकदेश में रहने वाला कथन करने से तात्पर्य है, क्योंकि दास आदि तो अज्ञान युक्त होने से ब्रह्म नहीं हो सकते और न उसके अवयव। ब्रह्म को दासादि कथन स्व-स्वामित्व सम्बन्ध कथन मात्र से है। यदि ब्रह्म ही दासादि है तो कैसे कोई अपना ही दास बन सकता है, कर्त्ता कर्म बन सकता है। दूसरी बात अंशी का गुण अंश में आता है पर दास या अन्य जीवों में ब्रह्म के सर्वज्ञ, निराकारादि गुण नहीं है, अतः वे ब्रह्म के अंश नहीं हैं पृथक् हैं और **अंश का अर्थ एकदेश ही है** क्योंकि ब्रह्म के तीन पाद छिपे हुए हैं जिसे जानना कठिन है, जैसा कि वेद ने कहा है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

यजु० ३१।३॥

मन्त्र में बताया गया है कि उस महान् ज्येष्ठ पुरुष के अमृत रूप तीन पाद, **दिवि** = द्योतनात्मक अपने मोक्ष स्वरूप में निहित हैं।

और जो यह **"जीव ईश्वरस्य अंशो भवितुमर्हति, यथा अग्नेर्स्फुलिङ्गः"** जैसे अग्नि की चिनगारी अग्नि का अंश है वैसे जीव ईश्वर

का अंश है यह कथन किया जाता है यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्त दर्शन का **"प्रकाशादिवत् नैवं परः"** वेदा० २।३।४६ ॥ यह सूत्र खण्डन करता है—

प्रकाशादिवत् = जिस प्रकार अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थ अंश वाले हैं एवं वैसे **परः** = ब्रह्म, **न** = नहीं, अर्थात् अग्नि आदि प्रकाशक साकार पदार्थों के समान ब्रह्म के सावयव, साकार न होने से जीव निराकार ब्रह्म का अंश नहीं है। प्रकाशादि पदार्थों की सावयवता के समान ब्रह्म के न होने से ही तो शंकराचार्य को भी **अंशो नाना०** सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट लिखना पड़ा—

अंश इव अंशो नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति ।।

शां०भा०वेदा० २।३।४३ ॥

शंकराचार्य ने ईश्वर की निरवयवता को स्वीकार करते हुए यह कहा कि जीव अंश के समान अंश है, वास्तव में अंश नहीं, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है और निरवयव पदार्थ का अंश होता नहीं, अतः जो अग्नि स्फुलिङ्ग के समान जीव को ब्रह्म अंश कथन किया जाता है, वह एकदेशी कथन के अभिप्राय से है, सर्वथा साकार पदार्थों की भाँति अंश-अंशी भाव बोधन के अभिप्राय से नहीं। वाह रे ! शंकराचार्य की **"जीवो ब्रह्मैव नापरः"** की स्थापना और ईश्वर की निरवयवता की स्वीकारता।

महर्षि दयानन्द ने जीव ब्रह्म की एकता बताने वाले वेदान्तियों की **"वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्"** पुस्तिका में अच्छी खिंचाई की है तथा वेदान्त दर्शन के सूत्रों की लम्बी सूची सत्यार्थ प्रकाश में समाहित की है और उपनिषदों के प्रमाणों से अपने कथन को सुस्पष्ट किया है कि जीव ब्रह्म का अंश नहीं हो सकता।

जो ब्रह्म, शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और उत्पत्ति, विनाश आदि से रहित है, नित्य है, अनादि है, अनन्त है, महान् है, सबसे परे है, निश्छल है, ध्रुव है जिसे प्राप्त कर मृत्यु के दुःख से छूट जाते हैं और उसे प्राप्त करके ही जीव **ब्रह्म रूप** = ब्रह्म गुण वाले होते हैं। मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

यदा पश्यः पश्यतेरुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।

मुण्डको०उप० ३।१।३ ॥

अर्थात् जब जीवात्मा चमकीले स्वरूप वाले सृष्टि के रचयिता को वेद के उपदेष्टा को देख लेता है तब विद्वान् ब्रह्म ज्ञानी बन अपने पुण्य-पाप अर्थात् सुख-दु:ख की अनुभूति से विरक्त होकर **निरञ्जनः** = निर्दोष, निष्कलङ्क बन जाता है, और परमपिता की सामीप्यता को प्राप्त कर लेता है, तभी वह अपने को ब्रह्म रूप से देखता है। इस बात को बृहदारण्यकोपनिषद् में स्पष्ट किया गया है—

तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एष तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति ।। बृहदा०उप० १।४।१० ।।

अर्थात् जो-जो देवों में महान् हुआ वह ब्रह्म हो गया। वैसे ऋषियों में, मनुष्यों में कभी पहले अपने को इस प्रकार देखते हुए वामदेव ने प्रतिपादन किया था, मैं, **मनुः = मननशील** हूँ, मैं, **सूर्यः = सर्व प्रेरक** हूँ। ऐसे ही आज भी अब भी इस प्रकार जाना जाता है, मैं ब्रह्म हूँ।

वस्तुतः वह जीव ब्रह्म नहीं होता। वेदान्त कर्त्ता व्यास मुनि ने भी स्पष्ट किया है—

शास्त्रदृष्ट्या तु उपदेशो वामदेववत् ।। वेदा० १।१।३० ।।

अर्थात् **शास्त्रदृष्ट्या** = शास्त्र द्वारा होने वाले निर्भ्रान्त ज्ञान द्वारा जो ब्रह्म साक्षात्कार उससे, **तु** = निश्चय से, **उपदेशः** = परमात्मा की ओर से जीव को अपने को ब्रह्म कथन करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है, **वामदेववत्** = वामदेव की भाँति।

दर्शन के इस सूत्र से स्पष्ट हुआ कि ब्रह्म साक्षात्कार के कारण ऋषि-मुनियों को ब्रह्म रूप कहा जाता था या वे अपने को ब्रह्म रूप से कथन करते थे। आगे चलकर उनके इस कथन ने जीव ब्रह्म का अंश है ऐसा सुस्पष्ट वाद खड़ा कर दिया, जो आज हमारे मस्तिष्क के स्क्रू को अंश-अंशी के पचड़े में फँसाये हुए है। अपने मस्तिष्क का शुद्धीकरण हमें वेदों, दर्शनों द्वारा करना चाहिए और ब्रह्म और जीव के पृथक्-पृथक् स्वरूप को, कार्य को जान लेना चाहिए।

शास्त्रों की बात हमारे मस्तिष्क में समझ नहीं आती है तो न आवे, पर परमात्मा द्वारा प्रदत्त भूकम्प सदृश थपेड़ों से स्पष्ट ही कर लेना चाहिए कि जीव और ब्रह्म क्या वस्तु हैं ? उनका क्या सामर्थ्य है ? जीव ब्रह्म एक हैं इसके प्रतिपादक ग्रन्थों के वेत्ता, श्रोता स्व निर्मित भवनों के अन्दर दबे-फँसे भली-भाँति जान रहे हैं, और जान गये होंगे कि हम क्या हैं ? और ब्रह्म क्या है ? अरे ! हम ब्रह्म होते, तो क्या हमें अपने सामने कुछ ही क्षणों में आने वाले विनाशकारी ताण्डव का ज्ञान न हो पाता ! काश ! हम ब्रह्म होते !

ईश्वर सर्वकर्त्ता है

सृष्टि में तीन अनादि सत्तायें हैं, ईश्वर, जीव, प्रकृति यह सर्वविदित है। ईश्वर के लिए वेद तथा वैदिक ग्रन्थों में सर्वकर्त्ता प्रतिपादित किया गया है। यथा—

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव० ।। ऋ० १०।१२९।७ ।।

यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा० ।। ऋ० १०।८१।२ ।।

द्यावाभूमी जनयन्देव एकः० ।। ऋ० १०।८१।३ ।।

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।।

ऋ० १०।८२।२ ।।

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्त्तारं ज्योतिः समत्सु ।।

ऋ० ८।१६।१०, अथर्व० २०।४६।१ ।।

त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्त्तारमिह यक्षि होतः ।।

यजु० २९।९ ।।

आदि मन्त्र वेद में भरे पड़े हैं, जो परमात्मा को सर्वकर्त्ता सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार दर्शनशास्त्र भी परमात्मा को सर्वकर्त्ता सिद्ध करते हैं, बतलाते हैं—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।। सांख्य० ३।५६ ।।

अर्थात् वह परमात्मा सर्वज्ञ तथा सर्वकर्त्ता है, संसार की रचना करने वाला है।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।। वेदा० २।२।१ ।।

अर्थात् उस परमात्मा के बिना प्रकृति में रचना की उत्पत्ति न होने से, प्रकृति जगत् का निमित्त कारण है, वह सृष्टि रच सकती है इसका अनुमान नहीं किया जा सकता।

इस सूत्र के माध्यम से बादरायण ने स्पष्ट किया है कि परमात्मा ही सृष्टि का कर्त्ता है।

ईश्वर का सर्वकर्तृत्व अपने आधिकारिक सीमा की अपेक्षा से है। महर्षि बादरायण ने **"सर्वधर्मोपपत्तेश्च"**, वेदा० २।१।३७॥ सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया है कि वेदों में जिस प्रकार का सृष्टि कर्त्ता वर्णित किया है उस प्रकार के सभी धर्म, ईश्वर में होने से वह सर्वकर्त्ता है। वह सर्वकर्तृत्व आधिकारिक होगा, जैसे—अपना जैसा ईश्वर उत्पन्न कर लेना, अपने को मार डालना, जीव को उत्पन्न करना, जीव के कार्यों को उत्पन्न करना आदि वेदविरुद्ध बातें होने के कारण से इन्हें न उसके साथ जोड़ सकते हैं, न उसे अकर्त्ता कहा जा सकता है, अर्थात् जैसे—**ओ३म्, अग्नि, विराट् आदि नाम हैं** उसके, तद्वत् अकर्त्ता उसका नाम नहीं हो सकता।

अब रही बात जीव की, सो जीवात्मा भी अनादि है, और उसके कर्म भी अनादि हैं, यथा—

न कर्माविभागादिति चेत् न अनादित्वात्॥

वेदा० २।१।३५॥

इस सूत्र में स्पष्ट किया है कि जीव के कर्म अनादि हैं, अतः उन कर्मों का विधाता परमात्मा नहीं होगा इसी बात को गीता में कहा—

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः॥

गी० ५।१४॥

अर्थात् परमात्मा जीव के पुरुषार्थ को = कार्य करने को, तथा उसके कर्मों को नहीं बनाता है। हाँ—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

गी० ४।१३॥

इस श्लोक में जो "अकर्त्तारम्" पद आया है वह जीवात्मा की दृष्टि से है, परमात्मा की दृष्टि से नहीं।

यहाँ पर श्रीकृष्ण महाराज ने कहा—मैंने ब्राह्मण इत्यादि चारों वर्णों का गुण, कर्म के अनुसार विभाग बनाया है उसका कर्त्ता मैं ही हूँ ऐसा जानो।

'अकर्त्तारमव्ययम्' पर मैं वस्तुतः अकर्त्ता ही हूँ, विकार रहित हूँ, क्योंकि कर्म अनादि हैं तो यह वर्णव्यवस्था भी अनादि काल से चली आ रही है। मेरे से पहले भी रही है, यह वर्णव्यवस्था, अतः मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ, न इसमें कोई व्यय = बदलाव कर सकता हूँ।

इस प्रकार कहीं पर भी वैदिक वाङ्मय में परमात्मा को अकर्त्ता नहीं कहा ग़या है। मेरी दृष्टि में कोई भी मन्त्र, श्लोक, सूत्र नहीं है जहाँ परमात्मा को अकर्त्ता कहा गया हो।



सुखे वा दुःखे वा परिषदि नृणां वातिविजने
गृहे वा बाह्ये वा गिरिषु शिखरे वा सुपुलिने।
दिने वा रात्रौ वा उषसि दिवसान्तेऽथ रमणे
भजध्वं हे धीरा सुमति विमला ओ३म् हृदि सदा।।

कर ले भीतर की पहचान

हम अपने या दूसरे के शरीर में प्रवृत्ति-निवृत्ति की क्रियाओं को देख सुनिश्चित जान लेते हैं कि शरीर में मन आदि इन्द्रिय समुदाय से भिन्न कोई अन्य वस्तु है, जो इन्द्रिय आदि को कार्य में प्रवृत्त करता है। वह वस्तु और कोई नहीं, जीवात्मा है। जीवात्मा द्वारा शरीर सञ्चालन के सम्पूर्ण कार्य को देखकर प्राय: उसके निवास विषय में सन्देह बना रहता है, जिज्ञास्य प्रश्न रहता है कि वह जीवात्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो रहा है या शरीर के किसी स्थान विशेष में रहता है। इस लघु निबन्ध में संक्षेप से आत्मा के निवास स्थान विषयक चर्चा की गई है।

आत्मा शब्द **'अत सातत्यगमने'** धातु से औणादिक ४।१५३ मनिन् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है, अत: आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति **'सातत्येन अततीति आत्मा'** होगी, अर्थात् जो निरन्तर गमन करे, वह **आत्मा** कहलायेगा। **आत्मा** शब्द की यह व्युत्पत्ति तो ठीक है, किन्तु इस व्युत्पत्ति से परमात्मा और जीवात्मा की भिन्नता न हो सकेगी, और न इस व्युत्पत्ति से जीवात्मा के निवास का निश्चय हो सकेगा। प्रश्न यथावत् है।

महर्षि दयानन्द ने **आत्मा** शब्द की **'अतति निरन्तरं कर्म फलानि प्राप्नोति वा स आत्मा'** यह व्युत्पत्ति कर आत्मा के निवास स्थान विषयक सम्पूर्ण जिज्ञासाओं के बादलों को छिन्न-भिन्न कर दिया है, धन्य हैं ऋषिवर! महर्षि ने व्युत्पत्ति में जो **'कर्मफलानि'** शब्द लगाया है उससे बिल्कुल सुस्पष्ट हो गया कि जीवात्मा का निरन्तर गमन कर्मानुसार फल पाने अथवा भिन्न-भिन्न शरीर पाने में या शरीर चेतनता में जाना जायेगा, सम्पूर्ण शरीर व्याप्ति में नहीं। तात्पर्य हुआ कि जीवात्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं है, अपितु किसी स्थान विशेष में रहता है।

अब शास्त्रों में देखें—**जीवात्मा अणु (परिच्छिन्न)** है या **विभु**? यह प्रश्नोत्तर स्वामी जी महाराज ने सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में किया है और वहाँ जीवात्मा को **अणु (परिच्छिन्न)** बताया है एवं इसी प्रकार का

प्रसङ्ग **वेदान्त दर्शन के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद के** प्रारम्भ में भी है, वहाँ बताया गया है कि जीवात्मा अणु है, सूत्र है—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।। वेदा०द० २।३।१९ ।।

अर्थात् **उत् क्रान्ति** = शरीर से निकलना, **गति** = चलना, **आगति** = शरीर में पुनः प्रवेश करना इत्यादि क्रियायें होने से जीवात्मा अणु है, अर्थात् **सीमित होने से, एक देशी होने से जीवात्मा शरीर में आना-जाना करता है,** क्योंकि निकलना आदि क्रियायें सर्वत्र व्याप्त होने पर नहीं हो सकती हैं, जैसे परमात्मा सर्वत्र व्यापक है अतः उसका जगत् से निकलना आदि असम्भव है। तो इस प्रकार सिद्ध हुआ कि जीवात्मा पूरे शरीर में व्याप्त नहीं है।

इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में—

बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।।

श्वेताश्व० ५।९ ।।

अर्थात् **बालाग्रशतभागस्य** = बाल के अग्र भाग के १००वें भाग का, **शतधा** = सौ बार, **कल्पितस्य** = (टुकड़े) किये हुए का, **च** = और, **भागः** = एक हिस्सा, **जीवः** = जीवात्मा है, **सः** = वह, **विज्ञेयः** = जानने योग्य है, **च सः** = और वह ही, **आनन्त्याय** = मोक्ष के लिए ही, **कल्पते** = समर्थ है।

उपनिषद् के इस वचन में केश के अग्र भाग के १००वें भाग के एक हजार टुकड़े कर दिये जायें, उस परिमाण वाला अर्थात् **'अणु'** जीवात्मा को बताया गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद के—

बालादेकमणीयस्कम्० ।। अथर्व० १०।८।२५ ।।

इस मन्त्र में भी बाल के अग्रभाग के समान **अणीयस्कम्** = अणु बताया गया है। इन सभी प्रकरणों से ज्ञात होता है कि वह जीवात्मा अणु है विभु नहीं, अर्थात् शरीर के एकदेश में है।

अब प्रश्न होता है कि यदि जीवात्मा एकदेशी है तो किस प्रकार से पूरे शरीर को चेतनता प्रदान करता है ? इसका बड़ा ही सुन्दर सटीक समाधान **'वेदान्त दर्शन'** में महर्षि व्यास ने किया है, सूत्र है—

अविरोधश्चन्दनवत् ।। वेदान्त० २।३।२३ ।।

अर्थात् **अविरोधः** = कोई विरोध नहीं है, **चन्दनवत्** = चन्दन के समान होने से, अर्थात् जिस प्रकार शरीर के किसी एक भाग में चन्दन लगाने से सर्वत्र शीतलता का अनुभव होता है, उसी प्रकार जीवात्मा शरीर के एकदेश में है और उसकी चेतनता पूरे शरीर में व्याप्त है, उस चेतनता के आधार पर ही सम्पूर्ण सुख-दुःखदि का अनुभव करता है।

उस एकदेशवासी जीवात्मा का स्थान क्या होना चाहिए ? इस शंका का निराकरण भी वेद तथा उपनिषद् आदि में भली प्रकार किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में आत्मा का स्थान हृदय देश बताया गया है—

स वा एष आत्मा हृदि ।। छान्दो०उप०८।३।३ ।।

अर्थात् वह यह आत्मा = जीवात्मा हृदय में है।

चरक निदान स्थान ८।३ में कहा है—

आत्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम् ।।

अर्थात् आत्मा का श्रेष्ठ स्थान हृदय है।

अब एक महत्वपूर्ण प्रश्न होता है क्या हृदय उस यन्त्र को कहते हैं जो रक्त को साफ कर, पूरे शरीर को वितरित करता है या कोई और हृदयवाची अंग शरीर में है ?

वस्तुतः **हृदय शब्द के कई अर्थ हैं**। यह वैदिक वाङ्मय से भली-भाँति स्पष्ट है। यहाँ दो अर्थ ही दिये जा रहे हैं—(१) **मस्तिष्क** और (२) **रक्त संवाहक यन्त्र**। रक्त संवाहक यन्त्र प्रसिद्ध ही है, मस्तिष्क वाचक हृदय शब्द के उदाहरण रूप में अथर्ववेद का मंत्र है—

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।।

अथर्व० १९।९।५ ।।

इस मन्त्र में मन सहित ५ ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन है। इस प्रकार मन्त्र का अर्थ हुआ कि **ब्रह्मणा** = आत्मा के साथ, **हृदि** = हृदय में, **यानि इमानि** = जो ये, **पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि** = मन सहित ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, **संशितानि** = स्थित हैं।

यहाँ **हृत्** शब्द **मस्तिष्क** के लिए आया हुआ है, क्योंकि इन्द्रियों का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है यह सर्वविदित है, और वही **मस्तिष्क = 'हृदय'** आत्मा का स्थान है। यह इस मन्त्र में कहा गया है।

अथर्ववेद के १०वें काण्ड के दूसरे सूक्त के २६वें मन्त्र में तो बहुत स्पष्ट शब्दों में मस्तिष्क को हृदय बताया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ।।

अथर्व० १०।२।२६ ॥

अर्थात् **पवमानः** = शुद्ध रूप, **अथर्वा** = निश्चल-परमात्मा, **अस्य** = इसके (मनुष्य के), **मूर्धानम्** = सिर, **च** = और, **यत्** = जो, **हृदयम्** = हृदय (मस्तिष्क) है, उसे **संसीव्य** = आपस में सीकर, **मस्तिष्कात्** = मस्तक बल से, **ऊर्ध्वः** = ऊपर होकर, **शीर्षतः**, **अधि** = सिर से ऊपर, **प्र ऐरयत्** = बाहर निकल गया।

तात्पर्य हुआ—परमात्मा ने **मनुष्य के शिर और हृदय = मस्तिष्क** को नाड़ियों द्वारा आपस में सिलकर, विवेक सामर्थ्य दिया है, परन्तु स्वयं मनुष्य की समझ = विवेक से बाहर है।

यहाँ हम देखें कि मन्त्र में सिर और हृदय का मेल बताया गया है। रक्त संवाहक हृदय का तो सिर से क्या पूरे शरीर से मेल है। अतः यहाँ हृदय से मस्तिष्क ही लेना है, क्योंकि विवेक तो मस्तिष्क ही देता है।

इस प्रकार **आत्मा मस्तिष्क में रहता है, पूरे शरीर में नहीं, यह वैदिक-वाङ्मय से स्पष्ट सुविदित होता है ।।**



वेदाङ्गों में निरुक्त की भूमिका

परमात्मा पूर्ण है, उसके सभी कार्य भी पूर्ण हैं, न्यूनता रहित हैं। उसके द्वारा प्रदत्त वेदज्ञान भी पूर्ण है, उसमें किसी भी प्रकार की न्यूनता, अपूर्णता नहीं है, समस्त व्यवहारों[१] को सिद्ध करने वाला है, सबके लिए उपादेय[२] है, यह वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, स्मृतियों, दर्शन शास्त्रों तथा रामायण, महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों में सुस्पष्ट किया गया है।

वेदों का ज्ञान वह ज्ञान है, जिसको देने में परमात्मा ही सक्षम[३] है। परमात्मा के अतिरिक्त सृष्टि में ऐसी कोई सत्ता नहीं, जो उसे दे सके। उन वेदों की संरचना पद-पदार्थ के प्रत्यक्षीकृत[४] ज्ञान वाले परमात्मा ने बुद्धिपूर्वक[५] की है। ऐसे पूर्ण वेदज्ञान को जानने के लिए किसी अन्य ग्रन्थ की, साधन की आवश्यकता नहीं। पुनः जब वेद शब्द के साथ अङ्ग शब्द जुड़ता है तो सहसा ऐसा प्रतीत होता है कि यह अङ्ग शब्द वेद के मन्त्र, सूक्त, वाक्य, पद आदि का वाचक है, यतो हि अङ्ग तत् पदार्थ के अवयव को कहा जाता है, पर पठन-पाठन की परम्परा में वेद शब्द के साथ जुड़े अङ्ग शब्द से छन्दादि छः शास्त्रों को ही जाना जाता है, जिनका वेदज्ञान कराने में पाद, हस्त, मुख आदि रूप में महत्व बताया गया है, यथा—

छन्दःपादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।।

पाणिनि० शि० ४१-४२ ॥

---

१. (१) सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु० १।२१ ॥
(२) देवो देवानां गुह्यानि नामाऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे ॥ ऋ० ९।९५।२ ॥

२. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ॥ यजु० २६।२ ॥

३. मुक्तामुक्तयोः अयोग्यत्वात् ॥ सां०द० ५।४७ ॥

४. प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥ वै०द० २।१।१९ ॥

५. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ वै०द० ६।१।१ ॥

अर्थात् छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण वेदार्थ के ख्यापक हैं, सहायक हैं, वे वेद के अङ्ग हैं।

इन षडङ्गों का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब श्रुति परम्परा से वेदज्ञान को ग्रहण करने-कराने में महर्षि असमर्थ हुए। जब तक अर्थ सहित वेदों का पठन-पाठन श्रवण परम्परा से होता रहा, तब तक पुस्तकाकार न वेदों की आवश्यकता हुई, और न ही उनके अङ्गों की। श्रवण परम्परा में व्याघात होने पर महनीय वेदज्ञान की रक्षा के लिए ऋषियों ने वेदों को भी पुस्तक रूप दिया और शिक्षा आदि वेदाङ्गों का भी ग्रथन किया, तथाहि यास्क महर्षि ने स्पष्ट किया है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिंषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।।

निरु० १।१९ ॥

अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने पीछे होने वाले असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों को उपदेश के द्वारा वेद मन्त्र दिये। उपदेश को ग्रहण करने-कराने में असमर्थ पीछे से होने वाले मनुष्यों ने विस्तार पूर्वक परिज्ञान के लिए इस निघण्टु, वेद तथा अन्य वेदाङ्गों को ग्रथित किया।

शिक्षा—

तात्पर्य हुआ वेदों को सुरक्षित करने के लिए ऋषियों ने वेदों का ग्रथन किया, साथ ही वेदों के अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, ह्रस्वादि मात्रायें, कण्ठ, मूर्धन्य आदि स्थानीय वर्ण, स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर प्रयत्न, घोष आदि बाह्य प्रयत्न, ग्रस्तादि दोष एवं माधुर्य आदि गुणों को बताने के लिए शिक्षा शास्त्र का निर्माण किया, जिससे दुष्ट शब्दों के प्रयोक्ता, उच्चारणकर्त्ता[1] न बनें।

छन्दः—

वेद के अक्षर, संख्या, मात्रा, पाद व्यवस्था आदि ज्ञान के लिए छन्दः

१. ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।
सन्दष्टमेणीकृतमर्द्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः ॥
अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः। शशः षष इति मा भूत्।
पलाशः पलाष इति मा भूत्। मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्॥
पाणि०वर्णो०शि० १९,२० ॥

शास्त्र का सृजन हुआ, क्योंकि यज्ञ आदि कर्मों में छन्दः विशिष्ट मंत्रों द्वारा विधियों का अनुष्ठान होता है।

कल्प—

कर्म विशेष में मन्त्रों के विनियोग के लिए कल्पशास्त्र बनाया गया।

ज्योतिष—

वेद विहित यज्ञ आदि कर्मों को किस काल में करना चाहिए इस ज्ञान के लिए ज्योतिष शास्त्र बना।

व्याकरण—

वेद के पदों का स्वरूप तथा उनके अर्थ ज्ञान के लिए व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण हुआ।

निरुक्त—

वेद के व्यापक अर्थ को बताने के लिए निरुक्त शास्त्र का प्रणयन हुआ, क्योंकि व्यापक अर्थ के अभाव में मन्त्र संकुचित अर्थों को ही प्रतिपादित करेंगे।

वेदांगों में निरुक्त वेदार्थ की दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। वह श्रोत्ररूप है, जैसे श्रोत्र के अभाव में वाणी के द्वारा लोक व्यवहार तो बनेंगे, पर वे सीमित होंगे, व्यापक नहीं, उसी प्रकार निरुक्त के बिना व्याकरण के द्वारा पद-पदार्थ का ज्ञान होने पर भी वेद के व्यापकार्थ को नहीं जान सकते। **मन्त्रों में आये गौ, अग्नि, आदि शब्दों के गाय, आग आदि अर्थ ही जानेंगे, पृथिवी, परमात्मा आदि नहीं**। व्यापकार्थ को जाने बिना मन्त्रों का उचित विनियोग भी नहीं बन पायेगा, एतदर्थ निरुक्त शास्त्र वेदार्थ में अत्यन्त उपयोगी है।

यास्क महर्षि ने निरुक्त की भूमिका में निरुक्त शास्त्र के प्रयोजन दर्शाते हुए सर्वप्रथम अर्थ का परिज्ञान बताया है—

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते,
अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः,
तदिदं विद्यास्थानं, व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च ।।

निरु० १।१५ ।।

अर्थात् निरुक्त के बिना मंत्रों के अर्थों का परिज्ञान नहीं हो सकता। जो अर्थ नहीं जानता, वह स्वर, संस्कार = प्रकृति, प्रत्यय रूप का यथावत्

अवधारण नहीं कर सकता, अतः यह शास्त्र विद्या का स्रोत है, अपूर्ण व्याकरण का पूरक है, यानी जो व्याकरण प्रकृति-प्रत्यय का विभाग बताता है उस विभाग को जानने में निरुक्त का अर्थ परिज्ञान सहायक होता है और यह मन्त्रार्थ ज्ञान का साधक है। तात्पर्य हुआ केवल व्याकरण की प्रकृति-प्रत्यय की योजना मात्र से मंत्रों के समुचित अभिप्राय को नहीं जाना जा सकता, जब तक अर्थ निर्वचन की विधि न आवे। तो इस प्रकार निरुक्त अर्थ निर्वचन द्वारा मंत्रों के पद विभाग[1] करके तथा देवतादि[2] विषय को बता करके विविध अर्थों को स्पष्ट करता है।

निरुक्त की अर्थ निर्वचन शैली के द्वारा ही मंत्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक, अधियज्ञ अर्थों को कर पाना सम्भव है। **निरुक्त में वेदार्थ की इस त्रिविध प्रक्रिया को बहुधा प्रतिपादित किया गया है**। एक शब्द के अनेक निर्वचन करके अर्थ की व्यापकता को दर्शाया है। निर्वचन क्रम के प्रथम शब्द **गौ** को ही लें, इस शब्द के निरुक्त में—(१) पृथिवी[3] (२) गौ-पशु (३) गौ से उपलब्ध दुग्ध, घृत इत्यादि (४) गो-चर्मपात्र (५) श्लेष्मा = सरेस, (६) ताँत, (७) धनुष की ज्या, (८) आदित्य तथा (९) सूर्य की सुषुम्णा रश्मि ये ९ अर्थ[4] किये गये हैं।

ये सभी अर्थ **"यद्दूरङ्गता भवति"** तथा **"यच्च अस्यां भूतानि गच्छन्ति"** निरु० २।२।१, जो दूर तक गति करती है अथवा इसमें सब प्राणी

---

१. अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते ॥ निरु० १।६।१५ ॥
२. अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम् ॥ निरु० १।६।१७ ॥
३. (१) गौरिति पृथिव्या नाम धेयम् ॥
(२) अथापि पशूनामेह भवत्येतस्मादेव ॥
(३) अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति-गोभिः श्रीणीत मत्सरम् इति पयसः ।
(४) अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि इत्यधिषवण- चर्मणः ।
(५) अथापि चर्म च श्लेष्मा च ।
(६) अथापि स्नाव च श्लेष्मा च ।
(७) ज्यापि गौरुच्यते ।
(८) आदित्योऽपि गौरुच्यते ।
(९) अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते.........सोऽपि गौरुच्यते ॥ निरु० २।२।५ ॥
४. गौ शब्द के निघण्टु १।११, ३।१६ आदि में पठित होने से वाक् तथा स्तोता आदि अर्थ भी हैं ॥

गति करते हैं, प्राप्त करते हैं, इन दो निर्वचनों के द्वारा ही यास्क ने किये हैं। इन दो निर्वचनों ने वेदार्थ को बहुत गहनता तक पहुँचा दिया है जो तत् स्थल में ही द्रष्टव्य है।

मंत्रों में जो अनेकेश्वरवादिता, अश्लीलता, रूढार्थता, तथा इन्द्र, वरुण आदि शब्दों को देख इतिहास आदि का भास होता है वह सब यास्कीय निर्वचनों द्वारा दूर हो जाता है।

अर्थ निर्वचन पर बल देते हुए यास्क ने यह भी दृढ़ शब्दों में कहा है, कि प्रकरणानुसार ही निर्वचन करना चाहिए—

"नैकपदानि निर्ब्रूयात्" निरु० २।१३ ॥

न तु पृथक्त्वेन मन्त्राः निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः ।।

निरु० १३।११ ॥

तात्पर्य हुआ अर्थ निर्वचन करके अर्थों का संयोजन प्रकरण के अनुसार करना है, प्रकरण के विपरीत नहीं।

प्रकरण के अनुसार अर्थ करने से मंत्रों की अनर्थकता तथा पुनरुक्ति दोष भी समाप्त हो जाते हैं—

यथा कथा च विशेषोऽनाभि भवति इति अपरम्, मण्डूका इवोदकान् मण्डूका उदकादिव इति यथा ।।

निरु० १०।२।१६ ।

अर्थात् पुनरुक्त प्रतीत होने वाले स्थलों में कुछ न कुछ अर्थ विशेष हुआ करता है अतः वह पुनरुक्त नहीं होता।

यहाँ पर ऋ० १०।१६६।५ के मंत्रांश में मण्डूक तथा उदक शब्द दो-दो बार आये हैं, उनका अर्थ हुआ जैसे जल में मण्डूक बड़े प्रसन्न होकर ऊँचे स्वर से बोलते हैं वेसे तुम मेरी आज्ञा में रहते हए बोलो, यह एक अर्थ हुआ।

और जैसे मण्डूक जल में से बोलते हैं, जल के बिना नहीं बोलते, वैसे तुम मेरी आज्ञा में बोलो, आज्ञा के बिना नहीं, यह दूसरा अर्थ हुआ। यहाँ शब्द सादृश्य होते हुए भी अर्थ की विभिन्नता स्पष्ट है। मंत्र में राष्ट्रद्रोही, गुरुद्रोही आदि के लिए आज्ञा में रहने का संकेत है।

इस बात को और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा—

अभ्यासे भूयासमर्थं मन्यन्ते, यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति ।।

निरु० १०।४।२७ ।।

अर्थात् कथ्य में अधिक बल देना अभीष्ट होता है या उसकी ओर विशेष ध्यान आकर्षित करना होता है। तो उसे पुनरावृत्ति करके कहते हैं, **'अहो दर्शनीय, अहो दर्शनीयः'** ।

इस प्रकार निरुक्त शास्त्र ने वेदों में आये अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि शब्दों के विभिन्न अर्थ निर्वचन करके पृथिवी, गौ, परमात्मा, जीवात्मा, राजा, सूर्य, अध्यापक, उपदेशक आदि विविध अर्थ करके वेदार्थ की व्यापकता के प्रतिपादन में अपनी विशिष्ट भूमिका स्थापित की है एवं वेद ज्ञान की बृहत्तम सुरक्षा की है।



ईशान कोण का यज्ञीय कलश

जब हमारी कर्मकाण्ड पद्धति में अनेक विकृतियाँ आ गईं तथा जनसाधारण के लिए वे पद्धतियाँ एक हौवा सिद्ध होने लगीं तब ऐसे समय में महर्षि दयानन्द ने कर्मकाण्ड विषयक दुरूहता को सरल तथा बुद्धिगम्य बनाने के लिए "संस्कार विधि" ग्रन्थ का प्रणयन किया और वेद एवं वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौत तथा गृह्यादि सूत्रों के आधार पर विकृत कर्मकाण्ड को शुद्ध रूप में हमारे सामने रखा।

महर्षि ने **"संस्कार विधि"** में **"कर्मकाण्ड = अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त" यागों में प्रयुक्त होने वाले यज्ञकुण्ड, पात्र, सामग्री आदि का भली प्रकार निर्देश किया है।** "संस्कार विधि" में निर्दिष्ट यज्ञीयपात्र आदि साधनों में कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं, जिनका श्रौत्रादि ग्रन्थों में निर्देश प्राप्त नहीं है परन्तु महर्षि ने उन विशिष्ट पदार्थों के चित्र एवं नाम अपनी पुस्तक में दिये हैं जो ऋषिवर की अपनी देन है। यहाँ मेरा महर्षि की "संस्कार विधि" पुस्तक के विषय में लिखना उद्देश्य नहीं है अपितु यज्ञीय विधि-विधान के अङ्गभूत **"कलश स्थापन"** पर प्रायः उठाये जाने वाले प्रश्न का उत्तर देना ही लक्ष्य है।

कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने वाले जितने भी यज्ञीय पात्र आदि साधन हैं, चाहे महर्षि द्वारा निर्दिष्ट हों, चाहे श्रौतादि ग्रन्थों में विहित हों, सबका मूल वेद है। वेद के संकेतों के आधार पर ही ऋषियों ने इन पात्रों के नामकरण व उनकी बनावटों का निश्चय किया है। इन यज्ञीय पात्रों का वर्णन श्रौत आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है, महर्षि दयानन्द ने तो विस्तार से उन पात्रों के नाम तथा चित्र दिये हैं। **महर्षि द्वारा निर्दिष्ट पात्रों में से प्रोक्षणीपात्र, प्रणीतापात्र, आज्यस्थालीपात्र तथा चमसा (स्रुवा) ये चार पात्र ही हमारे दैनन्दिन अग्निहोत्र[१] में काम आते हैं।** दैनन्दिन अग्निहोत्र में प्रयुक्त होने वाले पात्रों

---

१. सत्यार्थ प्रकाश तृ०समु०।

में चमसा (स्रुवा) एवं आज्यस्थाली का कार्य स्पष्ट है, प्रोक्षणी भी स्पष्ट है जो जलसिञ्चन तथा हस्त-प्रक्षालनादि के कार्य में प्रयुक्त होती है। प्रणीतापात्र के कार्य को समझना है।

अब हम पहले यह समझ लें कि आधिदैविक जगत् में हो रहे देवयज्ञ को सुगमता से जानने-जनाने के लिए ही ऋषियों ने द्रव्य यज्ञों की कल्पना की, जिससे आधिदैविक जगत् के रहस्य भली-भाँति हृदयङ्गम हो जायें। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि देवयज्ञ की यज्ञवेदी प्रधानतः पृथिवी ही है। इस वेदिरूप पृथिवी के उत्तर भाग में सृष्टि के आरम्भ से ही परमेश्वर ने **"सोमतत्वरूप हिमालय"** को स्थापित किया है, जहाँ का जल सब स्थानों से अधिक शीतल है। हिमालय की यह शीतलता शाश्वत शान्ति का संदेश देती है, इसी कारण उत्तर दिशा शान्ति की प्रतीक मानी जाती है। **इस प्राकृतिक ईश्वरीय जल स्थापन प्रक्रिया को समझाने के लिए ही ऋषियों ने आहवनीय कुण्ड से लगे हुए उत्तर भाग में प्रणीता पात्र स्थापित करने का विधान 'कात्यायन श्रौत' सूत्रादि में किया है—**

गार्हपत्यमुत्तरेणोदपात्रं निधायाऽऽलभते.... । अध्वर्युः वामहस्तस्थं प्रणीतापात्रं जलेनाऽऽपूर्य गार्हपत्यस्योत्तरतः स्थापयित्वा 'भूतस्त्वेति' मन्त्रेण तत् पात्रं स्पृशेत् ।

अनुज्ञात उत्तरेणावहनीयं सम्प्रति निदधाति "कस्त्वे"ति । ओऽम् प्रणय इति ब्रह्मणाऽनुज्ञातोऽध्वर्युः प्रणीतां गार्हपत्या-दाहवनीयसमीपं तूष्णीं नीत्वा आहवनीयस्योत्तरतः सम्प्रति अनन्तिके अनतिदूरे च बहिर्वेदिः कस्त्वेति निदध्यात् ।

का०श्रौ० २।३।१, ३ ॥

ततोऽनुज्ञातोऽध्वर्युश्चमसं गृहीत्वाऽऽहवनीयमुत्तरेण कुण्डेन सह लग्नमेव प्रणीतापात्रं ओ३म् 'कस्त्वा०' मन्त्रेण दर्भेषु निदध्यात् ।।

दर्शपौर्णमासपद्धतिः पृ० १२ ॥

उपर्युक्त वचनों में प्रणीतापात्र के स्थापन का स्थान गार्हपत्य से उत्तर तथा आहवनीय कुण्ड से उत्तर लगा हुआ नातिदूर, नातिसमीप भाग बताया है जो प्रणीता के स्थापन प्रक्रिया से ईशान कोण हो जाता है।

इस प्रणीतापात्र की आकृति चतुष्कोण[1] **है,** यह शास्त्र सिद्ध है। यज्ञों का आधार वेद है, इसे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। **अथर्ववेद के १८वें काण्ड के चौथे सूक्त में जुहू, स्रुक्, पुरोडाश, इडा आदि यज्ञीय साधनों के नाम आये हैं, वहीं "चतुष्कोण-कलश"** का भी नाम आया है, मन्त्र इस प्रकार है—

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥

अथर्व० १८।४।३०॥

मन्त्रार्थ के आधिदैविक पक्ष में मन्त्र का अर्थ यज्ञ परक करेंगे, तदनुसार मन्त्र में कोशरूप चतुष्कोण कलश को यज्ञ में पूरित करने का संकेत है। मन्त्र में **'चतुर्बिल'** शब्द आया है, **"चतुर्"** का अर्थ स्पष्ट है **"बिलम्"** के अर्थ हैं कोर, छिद्र आदि। अब हम देखें कि ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट पात्रों में यह कौन-सा पात्र है जो मन्त्र में निर्दिष्ट है, तो पात्रों की आकृति के देखने-परखने से यही निश्चय होता है कि मन्त्रोक्त **चतुर्बिल कलश से प्रणीता**[2] **पात्र ही साम्य रखता है।** ऋषियों ने इस **"चतुष्कोण कलश"** की यौगिक संज्ञा यानी **"प्रणीता"** नाम उसके आनयन तथा जलस्थापन की विशिष्ट प्रक्रिया के कारण दिया है, तथाहि—

यदापः प्राणयंस्तस्मात् आपः प्रणीताः तत् प्रणीतानां प्रणीतात्वम्।

श०ब्रा० १२।९।३।८॥

अर्थात् इस पात्र में जल का प्रणयन किया जाता है, अतः, **आपः =** जल, **प्रणीताः** कहलाये और उन जलों का पात्र **प्रणीता पात्र** हुआ। एतदर्थ उस **चतुष्कोण वाले** पात्र का नाम ऋषियों ने प्रणीता रखा।

---

१. (१) संस्कारविधि सा०प्र०। सत्यार्थ०तृ०समु०।
(२) वारणकाष्ठनिर्मितं चतुष्कोणं चमसं (प्रणीतापात्रम्) .....।
दर्शपौर्णमास पद्धतिः, पृ० ११-१२॥

२. इस प्रसंग में निम्नलिखित पङ्क्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—
प्रणीताप्रणयनपात्रं चमसः स च न्यग्रोधजो रौहितकजो वा चतुरङ्गुलदण्डश् चतुरश्र षडङ्गुलदीर्घस्त्र्यङ्गुलनिम्नश्चतुरश्रबिलः। संस्कार रत्नमाला पृ० १९॥
उपर्युक्त स्थल में पण्डित गोपीनाथ भट्ट ने बड़े सुस्पष्ट शब्दों में प्रणीता को **"चतुरश्रबिलः"** कहा है।

इस प्रणीतापात्र का अथर्ववेद के संकेत के आधार पर कलश नाम सुस्पष्ट है, परन्तु यज्ञीय अन्य विकृतियों की ही तरह यह पात्र भी विषय विभाग से **दैनिक अग्निहोत्र एवं संस्कारादि में "कलश" नाम से व्यवहृत होने लगा** और उसकी बनावट में भी भेद हो गया, चतुष्कोण आकृति की जगह गोल आकृति का व्यवहार होने लगा तथा **"दर्शपौर्णमासादि" यागों में 'प्रणीता' नाम से प्रसिद्ध हो गया, पर महर्षि दयानन्द ने "दैनिक अग्निहोत्र में भी प्रणीता पात्र** का स्थापन बताया है[1] **अतः स्पष्ट है कि वस्तुतः ये दोनों "प्रणीता तथा कलश" नाम एक ही पात्र के हैं।** यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ये यज्ञीय पात्र सोना[2], चाँदी, काष्ठ तथा मृत्तिका आदि के विहित किये गये हैं अतः कलशादि पात्र मिट्टी या कांस्य आदि किसी भी पदार्थ के हो सकते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट तात्पर्य निकला कि **यज्ञवेदी के ईशान कोण पर कलश स्थापन करना अवैदिक नहीं है, यह विधि वेद तथा वैदिक ग्रन्थों से अनुमोदित है।** कलश स्थापन की प्रक्रिया पौराणिक पद्धति से आई है, और क्योंकि पौराणिक भाई कलश स्थापन करते हैं इस हेतु से 'कलश स्थापन' को अवैदिक नहीं ठहराया जा सकता और न यह कहा जा सकता है कि महर्षि ने "कलश स्थापन" का विधान नहीं किया है, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में प्रणीतापात्र का निर्देश कर महर्षि ने कलश स्थापन का संकेत दे दिया है।

शास्त्रों में यजमान के लिए प्रणीतापात्र के स्थापन का फल सप्त ऋषियों के लोक (मूर्धा, जिसमें नेत्रादि के सप्त रन्ध्र स्थित हैं) की प्राप्ति बताई है, जिस मूर्धा से दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है—

"प्रणय यज्ञं देवता वर्धय त्वं नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु। सप्तऋषीणा ꣳ सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि ओ३म् प्रणय" इति प्रणीताः प्रसौति।

का०श्रौ० २।२।८॥

१. सत्यार्थ० तृ०समु०।
२. (१) संस्कारविधि सामा०प्र०।
(२) अभिचारकामः कांस्यपात्रेण, ब्रह्मवर्चस्कामः वानस्पत्यपात्रेण, प्रतिष्ठाकामो मृन्मयेन प्रणीतापात्रेण, प्रणीताप्रणयनं कुर्यात्॥

का०श्रौ०सू०वृ० २।३।५-८॥, का०श्रौ०शुल्व सू०वृ०॥

तात्पर्य हुआ जिस प्रकार वेदि रूप पृथिवी के शिरोभागरूप उत्तर दिशा में स्थित हिमालय हमें शीतलता प्रदान करता है, उसी प्रकार सुख का धाम हमारे शरीर का शिरोभाग हमें शान्ति प्रदान करता रहे, यही प्रणीता पात्र के स्थापन का तात्पर्य है, क्योंकि प्रणीतापात्र यज्ञवेदी का सिर है—

शिरो ह वाऽ एतद्यज्ञस्य यत् प्रणीताः (आपः) ।।

शत० ब्रा० ११।२।६।१ ॥

स्मरण रहे, यज्ञों में जल स्थापन का प्रमुख उद्देश्य शान्ति प्राप्ति ही होता है। महर्षि दयानन्द ने भी इसी उद्देश्य से "संस्कार विधि' में जातकर्म, समावर्तन, विवाह आदि संस्कारों में कलश स्थापन की व्यवस्था बताई है, क्योंकि जल शान्तिप्रद होता है। जल अग्नि की उष्णता, मानसिक संताप तथा व्याधि आदि की वेदना से मुक्ति दिलाने में औषधि के सदृश है। अथर्ववेद में कहा है—

आपः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ।।

अथर्व० १९।९।१ ॥

अर्थात् जल शान्तिदायक तथा औषधि रूप होवें।

इस प्रकार यज्ञवेदी के ईशान कोण पर मंगल कलश स्थापित किया जाना निःसन्देह युक्तियुक्त है।



प्राचीन याज्ञिकों का अदृष्ट और देवतातत्व

मनुष्य का जिस प्रकार ईश्वर और प्रकृति के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है, उसी प्रकार उसका कर्मों के साथ भी अनादि काल से सम्बन्ध है। वेदान्त दर्शनकार बादरायण ने कर्म के अनादित्व सम्बन्ध का कथन इस प्रकार किया है—

न कर्माविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात्।

वेदा० २।१।३५॥

अर्थात् **चेत्** = यदि, **अविभागात्** = विभाग न होने से (यानी सृष्टि के पूर्व एक ही अद्वितीय ब्रह्म के होने से), **कर्म** = कर्म, **न** = नहीं थे, **इति** = ऐसा कहा जाये तो, **न** = ठीक नहीं है, क्योंकि, **अनादित्वात्** = कर्म अनादि हैं।

यहाँ वेदान्त दर्शन में सुस्पष्ट रूप में कर्मों को अनादि बताया गया है। उन अनादि कर्मों का सम्बन्ध मनुष्य से है, तात्पर्य हुआ मनुष्य का जीवन कर्ममय है। संस्कार के अनुसार मनुष्य की कर्ममयता शुभ-अशुभ दो प्रकार की है, इस प्रकार कर्मानुसार मनुष्य का जीवन बहुविध प्रवृत्तियों का संकुल बन जाता है। ऐसे कर्म साहचर्य वाले मनुष्य के लिए परमात्मा ने वेदों का ज्ञान दिया, जो मनुष्य का संविधान रूप है। वेदों में मनुष्य की उन प्रवृत्तियों के विधेयक, निषेधक सिद्धान्त स्थापित हैं, उनमें यज्ञविधान भी है, जो मनुष्य के जीवन का अङ्ग रूप है।

यज्ञ शब्द व्यापक[1] अर्थ वाला है, अर्थात् देवपूजा, संगतिकरण, दान इन सबका नाम यज्ञ है, अथवा इसमें किसी अभीष्ट वस्तु की देवता आदि से याचना की जाती है, या यजुर्वेदीय मन्त्रों से आहुति द्वारा क्लिन्न होता है, अतः यज्ञ कहाता है, आदि बहुत से यज्ञ के अर्थ हैं। तात्पर्य हुआ आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सिद्धि के लिए जो कार्य किये जाते हैं, वे यज्ञ हैं।

१. यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्म इति नैरुक्ताः, याच्ञो भवतीति वा (याच्यन्ते देवतास्तस्मिन्निति, सर्वो वा भक्तादिः याचते तस्मिन्निति, स्क० ३।४।१९॥), यजुरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः, यजूंषि एनं नयन्तीति वा। निरु० ३।४।१९॥

लेकिन समय बीतते-बीतते यज्ञ शब्द रूढ हो गया, और उसका तात्पर्यार्थ अग्नि में आहुति देने मात्र में सीमित हो गया। और उसका परिणाम यह हुआ कि मन्त्रों को भी यज्ञनिमित्तक ही माना जाने लगा, क्योंकि यज्ञ की क्रिया मन्त्रपूर्वक[1] होती है, एवंविध—

वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ताः ।

वेदाङ्ग ज्योतिष ॥

शतपथब्राह्मणं संहिता च इत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वं, तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपादित्वात् ॥

काण्व सं०साय०भा०उपो०

अर्थात् शतपथ तथा संहिता में दर्शपूर्णमास आदि यज्ञ कर्मों का ही प्रतिपादन है।

सर्वे वेदाः कर्मकाण्डतत्पराः ।
वेदास्तु यज्ञार्थम् अभिप्रवृत्ताः ॥

विष्णुधर्मोत्तर पुराण २।१०४ ॥

इत्यादि वाक्य प्रसिद्ध हो गये। अर्थात् वेद आहुति मात्र के साधन समझे गये।

आहुति प्रदान वाले इन यज्ञ कर्मों का प्रारम्भ त्रेता युग में हुआ—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्, तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ॥

मुण्ड०उप० १।२।१ ॥

अर्थात् यह सत्य है कि वेदमन्त्रों में जिन कर्मों को ऋषियों ने देखा, वे कर्म त्रेतायुग में बहुत प्रकार से विस्तृत हुए।

अन्यच्च—

त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे ।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा ॥

महाभा०शा० २३२।३२ ॥

अर्थात् यज्ञों की परम्परा त्रेतायुग के प्रारम्भ में हुई।

---

१. यत्कर्मक्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् । निरु० १।१४ ॥

वे यज्ञ श्रौत, स्मार्त्त दो प्रकार से विभक्त हुए। श्रौत यज्ञ वे हुए, जिनका विधान **श्रुति** = वेदों से होता है, और स्मार्त्त यज्ञ उनको कहा गया, जिनका विधान गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्र से किया जाता है। पुनः इन दोनों श्रौत, स्मार्त्त यज्ञों के तीन-तीन भेद हुए, नित्य, नैमित्तिक और काम्य।

याज्ञिकों के अनुसार नित्य यज्ञ वे हैं, जो नियमित रूप से किये जाते हैं, जिनके करने से आत्मशुद्धि पूर्वक मोक्ष प्राप्ति रूप फल प्राप्त होता है, तथा न करने पर पाप लगता है।

नैमित्तिक यज्ञ वे होते हैं, जो अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प आदि होने पर किये जाते हैं। और काम्य यज्ञ वे हैं जो किसी कामना = यशप्राप्ति, धनप्राप्ति, विद्याप्राप्ति, प्रजापशुप्राप्ति आदि हेतु से किये जाते हैं, जो विभिन्न कामनाओं के होने से विभिन्न हो जाते हैं।

नित्य क्रियमाण यज्ञों की महाभारत शान्तिपर्व में गणना की गई है, तथाहि—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः॥

महाभा०शा० २६९।२०॥

अर्थात् अग्निहोत्र, पूर्णिमा, अमावस्या के यज्ञ और चातुर्मास्य यज्ञ **सनातन = प्राचीन (नित्य)[१] यज्ञ हैं।**

अग्निहोत्रादि यज्ञ नित्य करणीय हैं, एतद् द्योतक—

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः॥

मैत्रा०आ० ६।३।७॥

अर्थात् स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे।

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[२]॥

स्वर्ग की कामना वाला दर्शपूर्णमास यागों से यजन करे।

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[३]॥

---

१. नित्याः यज्ञाः। सोमान्तानि तु नित्यानि, नैयमिकं ह्येतत् ऋणसंस्तुतम् इति वसिष्ठवचनात्। आप०श्रौ०सू० १।१॥

२. तु० स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ एककामः। आप०श्रौ०सू० ३।१४।८॥

३. तु० स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप०श्रौ०सू० १०।२।१॥

स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम से यजन करे, इत्यादि वाक्य शास्त्रों में पठित हैं।

स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले इन अग्निहोत्रादि यज्ञों का स्वरूप याज्ञिकों ने इस प्रकार माना है—

द्रव्यं देवता त्यागः ।।

का०श्रौ०सू० १।२।२ ।।

अर्थात् जिस कर्म में द्रव्य, देवता और त्याग इन तीनों का सहभाव होता है, वह यज्ञ होता है।

देवतोद्देश्येन द्रव्यस्य त्यागो यज्ञः ।।

याज्ञिक सम्प्रदाय ।।

देवता को उद्दिष्ट करके किसी द्रव्य का त्याग करना यज्ञ कहाता है।

यत्र प्रक्षेपाङ्गको देवतोद्देशपूर्वको द्रव्यत्यागो अनुष्ठीयते स यागपदार्थः ।।

खण्डदेव, भाट्टदीपिका ४।२।१२ ।।

जहाँ पर देवता को उद्देश्य कर द्रव्य के प्रक्षेप का अनुष्ठान किया जाता है उसे यज्ञ कहते हैं।

यहाँ यज्ञ परिभाषा के अङ्गभूत द्रव्य, देवता, त्याग इन तीनों में द्रव्य और त्याग सुस्पष्ट हैं। दधि, सोम, व्रीहि यवादि द्रव्य कहे जाते हैं, और आहुति देने का नाम त्याग है। देवता पद संदिग्ध है।

'देव' शब्द **देवृ देवने, दिवि प्रीणने, दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार-द्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु,** तथा **दिवु परिकूजने** आदि धातुओं से **'नन्दिग्रहि०'** ३।१।१३४ ।। सूत्र से अच् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। उसी से स्वार्थ में **'देवात्तल्'** ५।४।२७ ।। सूत्र से तल् प्रत्यय होकर देवता शब्द सिद्ध होता है, और वह **'तलन्तः'** लिङ्गा० १७ ।। इस नियम से स्त्रीलिङ्ग में जाना जाता है। इस प्रकार **देव और देवता दोनों शब्द एकार्थक हैं।**

यास्क महर्षि ने भी देव और देवता का स्वरूप बताते हुए कहा—

देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। निरु० ७।४।१५ ।।

अर्थात् दान से, प्रकाशन से, चमकने से और द्युस्थान वाला होने से 'देव' कहा जाता है, **जो देव है, वही देवता है।**

देवता शब्द के इस निर्वचन से स्पष्ट होता है कि यास्क की दृष्टि में देवों का देव परमेश्वर मुख्य देवता है, क्योंकि ये चारों अर्थ परमात्मदेव में ही घट सकते हैं। परमेश्वर से अतिरिक्त सभी देवता इसी से अनुप्राणित[1] होते हैं।

देवता शब्द का वाच्यार्थ क्या होता है ? इसके लिए वैदिक वाङ्मय में बहुत सी परिभाषायें उपलब्ध हैं—

१. यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ।।

निरु० ७।१।१ ।।

अर्थात् जिस अर्थ की कामना करता हुआ ऋषि = परमेश्वर जिस देवता के गुणों का **स्तवन** = कथन करता है, वह मन्त्र उस देवता वाला हो जाता है।

२. या तेन उच्यते सा देवता ।।

ऋक्सर्वा० २।५ ।।

अर्थात् उस ऋचा से जो कहा जाये वह देवता है।

३. तेन वाक्येन यत्प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता ।।

वेदार्थदीपिका षड्गुरुशिष्य ।।

अर्थात् उस वाक्य से जो प्रतिपाद्य वस्तु है, वह देवता है।

४. अर्थमिच्छन् ऋषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः ।।

बृहद् दे० १।६ ।।

अर्थात् मन्त्रद्रष्टा जिस-जिस अर्थ की कामना करता हुआ अपनी भक्ति से जिस-जिस देव को चाहता है, मन्त्र उस देवता वाला हो जाता है।

---

१. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।
श्वेताश्वतर उप० ६।१४ ।।

५. अथ देवता मन्त्रवाक्याभिधेया: ।।

यजु० १।१ ॥ उवट भा०भू०

अर्थात् मन्त्र वाक्य का अभिधेय देवता कहा जाता है।

इस प्रकार इन सभी वैदिक वचनों का तात्पर्य हुआ कि मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही देवता है। और वह प्रतिपाद्य विषय चेतन-अचेतन दोनों प्रकार का हो सकता है।

वैदिक वाङ्मय में जहाँ मन्त्र के प्रतिपाद्य को देवता बताया गया, वहीं यह भी बताया गया कि वह प्रतिपाद्य विषय प्रधानरूप से परब्रह्म है। और अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, पृथ्वी आदि सब देवतावाची शब्द उसी एक महान् आत्मा परब्रह्म जगदीश्वर के अनेकविध ऐश्वर्यों के वाचक हैं, तथा च—

१. महाभाग्यात् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।।

निरु० ७।१।४ ॥

अर्थात् एक ही आत्मा देवता है, उसके अनेक ऐश्वर्यों के होने से बहुत प्रकार से स्तुत किया जाता है, इस एक आत्मा के अन्य देव एकदेश हैं। अर्थात् वह परमात्मा ही सबसे बड़ा देव है, उसके एकदेश में रहते हुए अन्य पदार्थ भी देव कहे जाते हैं, अग्नि, इन्द्र, अश्व, रथ, ओषधि आदि शब्द पदार्थवाचक होते हुए भी सभी परमेश्वर[1] वाची हैं।

२. अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति।

शांकर भा० वेदा० द० १।२।२८ ॥

अर्थात् अग्नि शब्द भी अग्रणीत्वादि सम्बन्ध के आश्रयण से परमात्म विषयक ही होगा।

३. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽ आपः स प्रजापतिः ।।

यजु० ३२।१ ॥

---

१. (१) अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता०। यजु० १४।२० ॥
(२) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो० ॥ ऋ० १।१६४।४६ ॥

अर्थात् अग्नि, आदित्य इत्यादि नाम उस प्रजापति ब्रह्म के ही हैं।

परं तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थे अत्यन्तं त्यागो भवति ।।

ऋक् भा०भू० प्रतिज्ञाविषय ।।

अर्थात् एक भी मन्त्रार्थ में आत्यन्तिक रूप से ईश्वर का त्याग नहीं होता है।

इसी प्रकार वेदादि शास्त्रों में जहाँ परमेश्वर ही मुख्य देवता है ऐसा वर्णन उपलब्ध है, वहीं विविध प्रसङ्गों में अनेक देवताओं का वर्णन भी प्राप्त होता है और इन अनेकविध देवताओं का तैंतीस देवों के रूप में वर्णन है, यथा—

त्रयस्त्रिंशद् देवताः ।। अथर्व० १९।२७।१० ।।

अर्थात् देवता तैंतीस हैं।

वेदों में उपलब्ध इन बहुविध या तैंतीस प्रकार के देवताओं में भी तीन[1] देवता अग्नि, वायु या इन्द्र तथा सूर्य ही प्रधान हैं, यथा—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः ।।

निरु० ७।२।५ ।।

अर्थात् तीन ही देवता हैं। अग्नि पृथिवीस्थानी, वायु या इन्द्र अन्तरिक्षस्थानी और सूर्य द्युलोकस्थानी है।

शास्त्रों में इन तीनों में भी अग्नि को ही प्रधान देवता माना गया है।

अग्निर्वै सर्वेषां देवानाम् आत्मा ।।

शत० १४।३।२।५ ।।

अर्थात् अग्नि सभी देवों का आत्मा है।

अग्निर्वै सर्वा देवता ।।

ऐ० ब्रा० १।१।२।३ ।।

अग्नि ही सम्पूर्ण देवता है।

---

१. सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ।। ऋ० १०।१५८।१ ।।

इस प्रकार निरुक्तादि वैदिक ग्रन्थों का यही निचोड़ है कि **मुख्य रूप से देवता सर्वद्रष्टा एक परमेश्वर है,** और उसके सामर्थ्य में रहने वाले जड़, चेतन सभी पदार्थ अग्नि, वायु इन्द्र आदि भी देवता हैं[१]।

याज्ञिकों ने इस देवता तत्व को **अशरीरी** और **शरीरी** दो रूपों में माना है। मीमांसकों (प्राचीन याज्ञिकों) ने देवताओं को **अशरीरी** माना है, और मीमांसकों से भिन्न याज्ञिकों ने देवताओं को **विग्रहवती = शरीर** वाला माना है।

देवता शरीरधारी हैं अथवा अशरीरी हैं? ऐसी धारणायें याज्ञिकों में फलप्राप्ति के कारण से उद्बुद्ध हुईं। **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, दाक्षायणयज्ञेन सुवर्गकामो यजेत**[२] इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होता है कि यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

यज्ञ में तीन वस्तुएँ हैं द्रव्य, देवता और त्याग। यहाँ अब यह सन्देह रहता है कि स्वर्ग जो याग का फल है, वह मिलता किससे है? क्या द्रव्यत्याग = यजन करने से? या जिस देवता के लिए द्रव्य त्याग किया जा रहा है, उस देवता से?

अदृष्ट—

मीमांसकों (प्राचीन याज्ञिकों) के अनुसार द्रव्य और द्रव्य-त्याग = यजन, फल को प्राप्त कराने वाले नहीं हैं, क्योंकि यज्ञ की क्रिया किञ्चित् काल के पश्चात् समाप्त[३] हो जाती है, और स्वर्गफल की प्राप्ति बहुत दिनों के पश्चात् होती है, इस प्रकार करणरूप यज्ञ का और फल रूप स्वर्ग का कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं बन पाता, अतः वे इन दोनों को स्वर्गप्राप्ति का देने वाला नहीं मानते, पर वाक्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि फल की प्राप्ति होती है, अतः फल देने

---

१. इन सभी सर्व द्रष्टा परमेश्वर तथा अग्नि आदि देवताओं = प्रतिपाद्य विषयों की प्राप्ति = ज्ञान स्वाध्याय से होता है—स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। पातञ्जल योग २।४४॥

२. तै०सं० २।५।५।४॥

३. (१) भङ्गित्वात् यागस्य॥ शाबर भा०मी० २।१।५॥
(२) विनष्टे यजौ तद्भवति॥ शाबर भा०मी० ७।१।३॥

वाला अवश्य होना चाहिए, उस **अवश्यंभावी फल को देने वाले तत्व को मीमांसक (प्राचीन याज्ञिक) अपूर्व**[१] **नाम से कहते हैं।**

मीमांसकों (प्राचीन याज्ञिकों) के सिद्धान्त में **'यज'** धातु करण रूप से है, अर्थात् तात्पर्य यह हुआ दर्शपूर्णमास संज्ञा वाले याग समुदाय से कुछ अन्य किया जाता है, और वह अन्य क्या है ? अपूर्व है। यानि याग के द्वारा अपूर्व[२] ही उत्पन्न होता है, स्वर्ग नहीं, और उस अपूर्व से स्वर्गरूप फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यागादि समुदाय साक्षात् फल के निष्पादक न होते हुए भी स्व उत्पादित अपूर्व के द्वारा परम्परा से फल के निमित्त ही बनते हैं।

यह उत्पन्न होने वाला अपूर्व भी एक[३] ही उत्पन्न होता है, अनेक नहीं, क्योंकि प्रत्येक पद से अपूर्व की कल्पना मानने पर अनेक अदृष्टों का अनुमान करना पड़ेगा।

यद्यपि **'यजेत' 'जुहुयात्'** आदि पदों में कोई भी पद अपूर्व का वाचक[४] नहीं है, पुनरपि **'यजेत' 'जुहुयात्'** पदों से कुछ निष्पादनीय है ऐसा निर्दिष्ट हो रहा है, और **'स्वर्गकामः'** पद के द्वारा स्वर्ग की किसी के द्वारा भाव्यता है, किसी के द्वारा उत्पन्न होवाया जाना, यह द्योतित हो रहा[५] है। तात्पर्य हुआ **'यजेत'** आदि पद साकांक्ष हैं, अतः यजन करे, क्या करे ? किससे करे ? कैसे करे ? यह सन्देह रहता है, पुनः उनके साथ **'स्वर्गकामः'** यह अभिलाषा प्रयोजन रूप से जुड़ने पर **'यजेत'** इत्यादि पद निराकांक्ष हो जाते हैं, अर्थात् **'यजेत'** आदि क्रियाओं के द्वारा अपूर्व[६] की ही उत्पत्ति होती है, और उस अपूर्व के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है। इस विशिष्ट उत्पादन की अपूर्व संज्ञा इसलिए है कि उत्पन्न होने से पूर्व न यह यष्टा में होता है, न यज्ञ में।

१. चोदनेत्यपूर्वं ब्रूमः। अपूर्वं पुनः अस्ति, यत आरम्भः शिष्यते, स्वर्गकामो यजेत इति। इतरथा हि विधानमनर्थकं स्यात्। शाबर भा०मी० २।१।५ ॥
तस्मात् भङ्गी यजिः, तस्य भङ्गित्वात् अपूर्वम् अस्तीति। शाबर भा०मी० २।१।५ ॥
२. अपूर्वं तु तेन क्रियते। शाबर भा०मी० ७।१।३ ॥
३. तस्मात् एकम् अपूर्वम्। शाबर भा०मी० २।१।१ ॥
यदा एकस्मात् अपूर्वं, तदा अन्यत् तदर्थं भविष्यति ॥ शा०भा०मी०२।१।१॥
४. न तु कश्चित् शब्दः साक्षात् अपूर्वस्य वाचकोऽस्ति। शाबर भा०मी० २।१।१ ॥
५. भावार्थैः किमपि भावयितव्यं, स्वर्गकामस्य च केनापि भाव्यतेति। शाबर भा०मी० २।१।१ ॥
६. (१) तस्मात् भावार्थाः कर्मशब्दाः अपूर्वं चोदयन्तीति। शाबर भा०मी० २।१।१ ॥
(२) याज्ञिकों में अपूर्व के नियमापूर्व, अङ्गापूर्व आदि भेद हैं। द्रष्टव्य मीमांसा दर्शन का द्वितीय अध्याय।

मीमांसकों (प्राचीन याज्ञिकों) का यह अपूर्व ही अदृष्ट[1] है, क्योंकि जो अपूर्व उत्पन्न किया गया है, वह पहले से दृष्ट या श्रुत नहीं है। तात्पर्य हुआ अपूर्व एक अदृष्ट संस्कार है जो अनुष्ठाता आत्मा को कालान्तर में मृत्यु के पश्चात् अग्निहोत्रादि अनुष्ठान के स्वर्ग आदि फल से युक्त कर देता है।

देवतातत्व—

मीमांसकों (प्राचीन याज्ञिकों) के मत में देवता[2] भी स्वर्गफल का देने वाला नहीं है, यजि क्रिया ही परम्परा से फल को देने वाली है। जो **"तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति"**। तैत्ति०सं० २।५।४।३ ॥ अर्थात् इन्द्र देवता प्रसन्न हुआ-हुआ, प्रजा और पशुओं से तृप्त करता है, इत्यादि वाक्य प्राप्त होते हैं, वे कथन दातृत्त्व वाद से उक्त हैं।

याग में देवता गुणभूत[3] है, अर्थात् गौण है, जैसे अमात्य ने गाँव दिया, आदि कथन प्रयुक्त होते हैं, वस्तुतः गाँव देने वाला राजा ही होता है। इसी प्रकार इन्द्रादि देवता प्रसन्न होकर फल देते हैं, इत्यादि कथन भी गौण रूप से हैं, वस्तुतः याग क्रिया ही फल को देती है। प्ररोचना के लिए स्तुतिरूप से इन्द्रादि का दातृत्त्व कथन है, फल देने रूप से नहीं।

मीमांसकों (प्राचीन याज्ञिकों) से अतिरिक्त याज्ञिकों के मत में देवता ही फल देने वाला है, यतोहि, **'स्वर्गकामो यजेत'**' आदि वाक्यों का यज्ञरूपी सारा प्रयत्न देवता के आराधन = सन्तुष्ट करने के लिए होता है, और वह प्रसन्न[4] हुई देवता यज्ञरूपी कृत्य का फल देती है, जैसा कि सुना जाता है—

---

१. कल्प्यते च अदृष्टम्। शाबर भा०मी० २।१।४ ॥
२. स्यादेतदेवं, यदि देवतातः फलं स्यात्। यागात्तु फलं—स्वर्गकामो यजेत इति श्रूयते। यत्तु "तृप्त एवैनमिन्द्रः" इति। तत्रेदमुच्यते—**गुणत्वेन देवताश्रुतिः**। यागे गुणभूता देवता। तस्या दातृत्वं स्तुत्योच्यते। यथा—अमात्येन मे ग्रामो दत्तः, सेनापतिना मे ग्रामो दत्त इति। न चामात्यः सेनापतिर्वा ग्रामस्य प्रभवति, राजैव प्रभवति। इतरस्मिन् गुणभूते स्तुत्या दातृत्ववादः, तस्मात् यथोक्तेनैव न्यायेन हविः सामान्यमेव बलीय इति। शाबर भा०मी० ८।१।३४ ॥
३. इन्द्रो देवता अस्य पुरोडाशरूपस्य हविष इति ऐन्द्रः पुरोडाशः, यहाँ 'सास्य देवता' पा० ४।२।२३ ॥ से अण् प्रत्यय होकर सिद्ध हुआ है। इस शब्द के विग्रह से भी स्पष्ट है कि इन्द्र गौण है क्योंकि इन्द्र पुरोडाशादि हवि का विशेषण है, हवि विशेष्य है।
४. गुणत्वेन देवताश्रुतिः। मी० ८।१।३४ ॥ मीमांसा के इस सूत्र की दूसरी व्याख्या करके यह तात्पर्य निकाला गया—सर्वोऽयं प्रयासो देवताराधनार्थ एव। सास्य प्रसन्ना फलं ददाति ॥

तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति ।।

तै०सं० २।५।४।३ ।।

अर्थात् प्रसन्न हुआ इन्द्र इसे प्रजा और पशुओं से तृप्त करता है, तात्पर्य हुआ देवता ही फल का देने वाला है।

फल का देने वाला देवता है इस विचार वाले याज्ञिक देवता को **विग्रहवती** = शरीरधारी मानते हैं[१]। इन याज्ञिकों का ऐसा मन्तव्य इस कारण से है, जिन मन्त्रों से हवि का त्याग किया जा रहा है, उन मन्त्रों में जो इन्द्र आदि देवताओं के नाम हैं, उनके साथ पुरुष = शरीरधारी के समानं हस्तादि का भी वर्णन है। लोक में पुरुष = शरीरधारी के साथ ही दक्षिण या वाम हाथ आदि का सम्बन्ध देखा जाता है, अतः मन्त्रोक्त देवता के साथ हस्तादि सम्बन्ध का वर्णन पाये जाने से, यही निश्चय होता है कि वे भी शरीरधारी हैं, यथा—

जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्० ।।

ऋ० १०।४७।१ ।।

हे इन्द्र ! तुम्हारे दक्षिण हस्त को पकड़ते हैं।

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे ।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ।।

ऋ० ८।१७।८ ।।

मन्त्र का अर्थ सुस्पष्ट है कि तुविग्रीव आदि विशेषणों वाला इन्द्र **अन्धसः** = सोमभक्षण से प्रसन्न होकर, **वृत्राणि** = असुर को मारता है।

उपर्युक्त दोनों मंत्रों में इन्द्र के दक्षिण हस्त का पकड़ना तथा **तुविग्रीवः** = लम्बी ग्रीवा, **वपोदरः** = मोटे पेट वाला, और **सुबाहुः** = सुन्दर बाहु विशेषण आये हैं। ये विशेषण प्रत्यक्षतः **पुरुषः**[२] = शरीरधारी में ही देखे जाते हैं, अतः इन्द्रादि देवता भी शरीरधारी हैं, ऐसा स्वतः सिद्ध हो रहा है।

---

१. ऐसे याज्ञिकों को स्कन्द स्वामी ने **शुद्ध याज्ञिक** (मूर्ख याज्ञिक) नाम दिया है— **शुद्धयाज्ञिकास्तु** शब्दव्यतिरिक्ताम् इतिहासपुराणप्रसिद्धां तुविग्रीव इत्यादि मन्त्रप्रत्यायितरूपां (देवतां) प्रतिजानते स्तुवते ध्यायन्ति वेति। स्कन्द, निरु० ७।२।५।

२. ग्रीवा, उदरं, बाहू इति पुरुषविग्रहदर्शनं भवति, तस्मात् विग्रहवती देवतेति। शाब०भा०मी० ९।१।६ ।।

मीमांसक (प्राचीन याज्ञिक) भिन्न सम्प्रदाय का यह भी मानना है कि देवता खाते-पीते भी हैं, क्योंकि जैसे पुरुष = शरीरधारियों के लिए **'अद्धि पिब'** आदि क्रियाओं का प्रयोग होता है, वैसे इन्द्रादि के लिए भी हुआ है, यथा—

तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यं पक्वो३ऽद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य ।।

ऋ० १०।११६।७ ।।

हे **मघवन्** = धनवाले ! तुम्हारे लिए रस निचोड़ा गया है और यह उत्तम भोजन तुम्हारे लिए पकाया गया है, अतः, **इन्द्र** = हे इन्द्र ! **प्रस्थितस्य** = इस उपस्थित रस और भोजन को, **अद्धि** = खाइये, **पिब च** = और पीजिए।

एवंविध मन्त्र में आई **'अद्धि पिब'** आदि क्रियाओं का इन्द्र के साथ सम्बन्ध देखकर याज्ञिक निस्संदेह स्वीकार करते हैं कि देवता खाते-पीते हैं, क्योंकि खाने-पीने की क्रिया शरीरधारियों में ही होती है, अतः देवता शरीरधारी हैं। शरीर धारण देवता अपने ऐश्वर्य[1] बल से करते हैं।

याज्ञिकों के कि–देवता खाते-पीते हैं इस मन्तव्य के प्रति यह प्रश्न होने पर यदि वे देवता खाते हैं तो इनको दी हुई हवि कम क्यों नहीं होती ? इसके उत्तर में उनका मन्तव्य है कि अन्न रस को खाने वाले देवता मधुकरीवत्[2] हैं, जैसे मधुमक्खी पुष्पादि से रस लेती है, सम्पूर्ण पुष्पादि का भक्षण नहीं करती, वैसे ही ये देवता हवि का रस ग्रहण कर उसे नीरस बना देते हैं, अतः देवताओं के हवि ग्रहण करने पर हवि न्यून नहीं होती है।

इसी प्रकार इन्द्रादि देवताओं के हस्त इत्यादि के वर्णन, खाने-पीने के निर्देश के वर्णन तथा सम्बोधन शब्दों के होने से याज्ञिक लोग यह भी मानते हैं कि ये देव दृष्ट हैं, दीखते[3] हैं, अन्यथा इन देवों के साथ हस्त आदि[4] की सङ्गति नहीं हो सकती।

---

१. अस्ति हि ऐश्वर्ययोगात् देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चावस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। शांकर भा०वेदा० १।३।३३ ॥

२. अन्नरसभोजिनी देवता मधुकरीवत् अवगम्यते। देवतायै हविः प्रत्तं नीरसं भवति, तस्मादन्नरसं भुङ्क्ते देवतेति गम्यते। शाबर भा०मी० ९।१।६ ॥

३. और उन देवताओं का दर्शन धर्मोत्कर्ष में लगे हुए लोग ही कर पाते हैं, सभी नहीं, यथा—तस्माद् धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजहुः।
शांकर भा०वे० १।३।३३ ॥

४. अदृष्टकल्पनायां हस्तादिकल्पनानुपपत्तिरिति। शाबर भा०मी० ९।१।९ ॥

याज्ञिकों के इस मन्तव्य से कि देवता शरीरधारी हैं, वे खाते हैं, तथा दृष्ट हैं मीमांसक (प्राचीन याज्ञिक) सहमत नहीं हैं। मीमांसकों (प्राचीन याज्ञिकों) का मानना है कि इन्द्रादि देवों के हाथ का पकड़ना, उनकी बाहुग्रीवा आदि का होना मन्त्र में पाया जाता है, वह स्तुति अर्थवाद से अर्थात् रूपकालङ्कार से है, तथा च—

नियोगतो यस्यापि पौरुषविधिकैरङ्गैर्नास्ति संयोगः, पौरुष-विधिकैरङ्गैस्तस्यापि स्तुतिर्भवति, यथा—

एते वदन्ति शतवत् सहस्रवदभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।
विष्ट्वी ग्रावाणः = सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत।।

शाबर भा०मी० ९।१।९ ।।, ऋ० १०।९४।२ ।।

मन्त्रार्थ के आधिभौतिक पक्ष में मन्त्र में आये हुए **'ग्रावाणः'** शब्द का अर्थ पत्थर होगा, तब अर्थ हुआ—

एते = ये, **शतवत्** = सौ के समान, **सहस्रवत्** = हजार के समान होते हुए, **हरितेभिः आसभिः** = मनोहर मुखों से, **ग्रावाणः** = पत्थर, **अभिक्रन्दन्ति** = शब्द करते हैं और **सुकृतः सुकृत्यया** = सुन्दर कर्म वाले सुन्दर क्रियाओं से, **होतुश्चित्** = होता के घर में, **विष्ट्वी** = प्रवेश करके, **पूर्वे** = अग्रगामी होते हुए, **हविः आशत** = अन्न, भोजन खाते हैं।

मन्त्र में रूपकालङ्कार से बताया गया कि भोजनादि निर्माण में सिल बट्टे पर वस्तुएँ तैयार की जाती हैं, उस समय सौ या हजार लोगों के समान जो शब्द होता है, मानों वे ग्रावा शब्द करते हुए हवि का भक्षण करते हैं। जैसे यहाँ रूपकालङ्कार से ग्रावों के मुख और भक्षण का कथन किया है, पर वस्तुतः न वे खाते हैं, न उनका मुख होता है। ठीक इसी प्रकार इन्द्रादि देवों के साथ भी हस्तादि अङ्गों का वर्णन होने से उन्हें हवि भक्षण करने वाला और शरीरधारी नहीं माना जा सकता। इन्द्रादि देवताओं के साथ हस्तादि सम्बन्धों का कथन तो मात्र स्तुतिरूप अर्थवाद से है, वास्तविक रूप में नहीं। जैसा कि शबर स्वामी ने कहा है—

स्तुत्यर्थं संकीर्त्यते तुविग्रीवादिः।।

शाबर भा०मी० ९।१।९ ।।

अर्थात् तुविग्रीव आदि शब्द इन्द्र ग्रीवावान् है, इसके द्योतक नहीं हैं, अपितु इन्द्र का जो ग्रीवा रूप से है, वह महान् है **(याऽस्य ग्रीवा, सा महती,**

शाबर भा० मी० ९।१।९ ॥) जैसे इन्द्र[1] = विष्णु के हरित रंग वाले वृक्षादि ग्रीवा[2] कहे गये हैं वे महान् हैं, यह तात्पर्य जाना जायेगा।

याज्ञिकों के कि—देवता हवि खाते-पीते हैं और उनको दी हुई हवि न्यून नहीं होती, नीरस हो जाती है, अर्थात् देवता अन्न का रस खाते हैं, अन्न को नहीं। इस कथन को भी मीमांसक (प्राचीन याज्ञिक) नहीं मानते।

वातोपहतं नीरसं भवतीति, शीतीभूतं च ।।

शाबर भा०मी० ९।१।९ ॥

अर्थात् वायु के प्रभाव से अन्न नीरस हो जाता है, और ठण्डा हुआ अन्न भी नीरस हो जाता है, अतः हवि की नीरसता के कारण **इन्द्रादि देवताओं को विग्रहवती = शरीरधारी नहीं माना जा सकता।**

मीमांसक अन्य याज्ञिकों के सदृश इन्द्रादि देव देखे जाते हैं, यह भी नहीं मानते हैं, क्योंकि उनके सिद्धान्त से इन्द्र इत्यादि शब्द सम्बोधन के लिए नहीं हैं, अपितु निर्देश के लिए हैं—

तस्मात् सम्बोधनवचनं न सम्बोधनाय निर्देशार्थमेव ।।

शाबर भा०मी० ९।१।९ ॥

अर्थात् इन्द्र इत्यादि देवों के लिए **"जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्०"** आदि मन्त्रों में इन्द्र सम्बोधनशब्द निर्देश के लिए है कि हमने तुम्हारे हाथ को पकड़ लिया, हम तुम्हारे आश्रय में हैं। एवंविध इन्द्रादि को विग्रहवती, खाने-पीने वाले और दृष्ट देवता नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार मीमांसक (प्राचीन याज्ञिक) देवताओं को शरीरधारी खाने-पीने वाले नहीं मानते। और ना ही उनके मत में देवता दृष्ट हैं[3], मीमांसक (प्राचीन याज्ञिक) देवता को शब्दमयी मानते हैं—

देवतायामप्युपकारिण्यां चोदितायां शब्दस्यैव यज्ञे समवायः ।.....। शब्द एव हविषा सम्बध्यते । तत्सम्बन्धात् अर्थोऽपि देवता भविष्यति । यस्य हि शब्दो हविषा तादर्थ्येन सम्बध्यते, सा देवता । शब्दे कार्यस्य असम्भवात् अर्थे कार्यं विज्ञायते । इह तु शब्द एव कार्यं सम्भवति ।।

शाबर भा० मी० १०।४।२३ ॥

---

१. इन्द्रस्य = विष्णोः युज्यः सखा। मै०सं० १।२।१४ ॥
२. ध्रुवा दिक् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो० ॥ अथर्व० ३।२७।५ ॥
३. न च वयं देवादीनां रूपं विद्मः । शाबर भा०मी०६।८।२३ ॥

अर्थात् उपकारिणी देवता में प्रेरणा होने पर शब्द रूप देवता का ही यज्ञ में सम्बन्ध होता है, और शब्द ही हवि से सम्बन्धित है, शब्द सम्बन्ध के कारण अर्थ भी देवता होगा। जिसकी हवि से शब्द तादर्थ्य रूप से सम्बन्धित होता है, **वह शब्द ही देवता है**। शब्द में कार्य के अभाव होने पर अर्थ में कार्य जाना जाता है, पर यहाँ तो शब्द में कार्य सम्भव है यानी शब्द बोलकर हवि दी जाती है, **अतः शब्द ही देवता है**।

तात्पर्य हुआ हवि देने के लिए जिन मन्त्र रूप शब्दों का प्रयोग होता है वे शब्द ही देवता हैं। मीमांसा दर्शन के नवें, दसवें अध्याय में मीमांसकों (प्राचीन याज्ञिकों) ने बहुत सुस्पष्ट रूप से विग्रहवती देवता का खण्डन किया है। उनके मत में शब्द के अर्थानुसार देवता चेतन-अचेतन कोई भी हो सकता है, पर मूर्त्तिमान् नहीं।

इस प्रकार **मीमांसक** (प्राचीन याज्ञिक) देवता को **अविग्रहवती, शब्दमयी = मन्त्र को ही देवता मानते हैं** और उनसे **भिन्न याज्ञिक** देवता को **विग्रहवती = शरीरधारी मानते हैं**। तात्पर्य हुआ इनके सिद्धान्त में जैसे याग क्रिया का यज्ञ देवता है उसका अधिष्ठात्री देवता विग्रहवती है, यज्ञादि से अतिरिक्त जल, वृक्ष आदि देवता हैं, उनके अधिष्ठात्री देवता विग्रहवती[१] हैं।



१. जो वैदिक सिद्धान्त है देवता सम्बन्धी, वह पृष्ठ १३२-१३३ पर बताया जा चुका है।

यज्ञ आजीविका का साधन नहीं

मनुष्य जीवन बड़े सत्कर्मों के फलस्वरूप मिलता है। इस जीवन में मानव कोई पाप न करे, अधर्म न करे इसके लिए परम पिता परमात्मा ने बहुत सारे कर्म विहित किये हैं, उन कर्मों में यज्ञ कर्म भी विहित है। यज्ञ मानव जीवन का निर्माण करने वाला है, मनुष्य जाति को कुत्सित कर्म और रोगों से बचाने वाला है, **'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्'** (यजु० ९।२१), यज्ञ आयु का देने वाला है ऐसा यजुर्वेद में कहा है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को सुख प्राप्त करने की नौका बताया है—**''नौर्ह वाऽ एषा स्वर्ग्या, यदग्निहोत्रम्'** (शत०ब्रा० २।३।३।१५)। इस यज्ञ कर्म को करने का समान रूप से सभी को अधिकार है, सभी का कर्त्तव्य है, चाहे स्त्री हो या पुरुष।

यज्ञ करने का मात्र उनको ही अधिकार नहीं है, जो राक्षस प्रवृत्ति वाले हैं, शुभ कर्मों में विघ्न डालते हैं, खुशामद में लगे रहते हैं, और कामवृत्ति वाले हैं अर्थात् जो ब्रह्मचर्य यम का उल्लङ्घन करते हैं, ऐसे व्यक्तियों को ही वेद यज्ञ का अधिकार नहीं देता, यथा—

न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः ।।
ऋ० ७।२१।५ ।।

अर्थात् **हे शविष्ठः** = हे अत्यन्त बलवान् (**शवः इति बलनाम,** निघ० २।९), राजन्, **न :** = हमारे, **ऋतं** = यज्ञ में (**ऋतं यज्ञं वा,** निरु० ४।३।४५), **यातवः** = राक्षस, **न जूजुवुः** = न आवें, **वेद्याभिः, वन्दनाः** = स्तुतियों से निवेदन करने वाले अर्थात् खुशामदी लोग, **न** = नहीं आवें, **शिश्नदेवाः** = उपस्थेन्द्रिय से क्रीडा करने वाले (**शिश्नदेवाः अब्रह्मचर्याः**, निरु० ४।३।४५), **मा अपि गुः** = न आवें, अपितु, **सः** = वह मनुष्य, **शर्धत्** = यज्ञ में आने का उत्साह रखे (**शर्धत् = उत्सहताम्,**

निरु० ४।३।४५), जो **अर्यः** = गतिशील है, जितेन्द्रिय है, **विषुणस्य** = कुटिल व्यक्ति का **(विष विप्रयोगे), जन्तोः** = नियन्त्रक हैं, वह यज्ञ में आवे।

तात्पर्य हुआ- यज्ञ में वे लोग ही अनधिकृत हैं, जो राक्षस वृत्ति के कारण विघ्नकारी हैं, असत्य का आश्रयण कर खुशामद करते हैं, तथा जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, दुराचार में प्रवृत्त रहते हैं, उन नर-नारी को ही यज्ञ करने-कराने का अधिकार नहीं है। जो गतिशील हैं, कुटिल व्यक्ति को परास्त करने में समर्थ हैं वे चाहे नर हों या नारी, दोनों को यज्ञ में आने का व यज्ञ करने का अधिकार है।

मध्य काल में जब पठन-पाठन छूट गया तब धर्म के ठेकेदारों ने स्त्री जाति को नीचा गिराने के लिए और अपनी कमी छिपाने के लिए यज्ञ जैसे दैनन्दिन उत्तम कर्म से वञ्चित कर दिया। उनसे यज्ञ के परिधान यज्ञोपवीत का अधिकार छीन लिया, वेद मन्त्र बोलने में पाबन्दी लगा दी, उस समय से ही नारी जाति के प्रति यह वाद प्रचलित हो गया कि स्त्रियाँ यज्ञ नहीं कर सकतीं, यज्ञोपवीत नहीं पहन सकतीं, मन्त्रोच्चार नहीं कर सकतीं। जबकि वेदों में बहुधा कथन है कि स्त्रियाँ यज्ञादि की पूर्ण अधिकारिणी हैं, उन्हें वेदों में **'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपः०'** अथर्व० ११।१।१७॥ कहकर यज्ञ करने का प्रमाणपत्र दिया है। **'यज्ञियाः'** शब्द बता रहा है कि नारियाँ यज्ञ करती व कराती हैं, इसी प्रकार ऋग्वेद में कहा—

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे विष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः ॥

ऋ० १०।३०।११॥

अर्थात् **आपः** = आप्त देवियाँ, **देवयज्या** = देवपूजा के लिए, **नः अध्वरं हिनोत** = हमारे यज्ञ में आवें, **धनानाम्** = धनों की, **सनये** = प्राप्ति के लिए, **ब्रह्म** = वेद को, **हिनोत** = जानें, **ऋतस्य** = यज्ञ के, **योगे** = सम्बन्ध में, **ऊधः** = अज्ञानता, अज्ञानान्धकार को **(ऊधः रात्रिनाम,** निघ० १।७), **विष्यध्वम्** = त्यागें, **अस्मभ्यम्** = हमारे लिए, **श्रुष्टीवरीः** = सुखकारी, **भूतन** = होवें।

यहाँ मन्त्र में कहा गया है कि **आपः = स्त्रियाँ,** यज्ञ करें, वेद का अध्ययन करें, यज्ञ की कमियों को, कुरीतियों को दूर करें तथा ऐसा करके सबके लिए कल्याणकारी बनें।

जो लोग स्त्रियों को यज्ञ करने से, वेद पढ़ने से, मन्त्रोच्चार करने से, यज्ञोपवीत धारण करने से वर्जित करते हैं, वे वेदादि शास्त्रों से अभिगत नहीं हैं। एतदर्थ ही अपनी न्यूनता को छिपाये रखने के लिए, अपनी पुष्टि के लिए मनगढ़न्त वचन भी बना लिए हैं। परमात्मा का ऐसा कोई विधान नहीं है, न वेदों में कहीं निषेध है कि नारियाँ यज्ञादि कर्म नहीं कर सकतीं।

वर्त्तमान समय में बड़ी प्रसन्नता की बात है कि महर्षि दयानन्द की कृपा से नारी जाति यज्ञोपवीत पहन रही है, यज्ञ करवा रही है और वेदमन्त्रों का उच्चारण बड़े गौरव से कर रही है। महाराष्ट्र आदि नगरों में यज्ञ यागादि अनुष्ठान, वैदिक संस्कार आदि कराने में नारियाँ लगी हुई हैं, वे बधाई की पात्र हैं, उन्हें अपने अधिकार का पूर्ण उपयोग करना चाहिए।

महिलाओं द्वारा यज्ञ, संस्कार आदि कराने से जिन तथाकथित पण्डितों को अपनी रोज़ी-रोटी जाने का भय है, इस सम्बन्ध में समझ लें, कि **यज्ञकर्म आजीविका का साधन नहीं है। यह एक आत्मशोधन आत्म-उन्नति का कर्म है, जिसे नर-नारी सबको करना चाहिए और यज्ञ कर्म के साथ-साथ आजीविका का कार्य दूसरा होना चाहिए।**

निठल्ले लोगों ने ही पुरोहिताई को आजीविका का साधन माना है। उन्हें मालूम हो, जैसे पिता-पुत्र का सम्बन्ध अटूट होता है, अनिवार्य होता है, और द्रव्यादि के परस्पर लेने-देने से दृढ़ होता है, इस पिता-पुत्र के लेन-देन को आजीविका नहीं कहा जा सकता, वैसे ही यजमान तथा पुरोहित ऋत्विक् का अटूट, अनिवार्य सम्बन्ध है, जिसमें परस्पर के लेन-देन से दृढ़ता आती है, जिसे आजीविका नहीं कहा जा सकता। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में **"आर्था यौना मौखाः स्रौवाश्च'** (महाभाष्य १।१।४९) अर्थात् प्रयोजन के कारण, योनि सम्बन्ध के कारण, गुरु-शिष्य सम्बन्ध के कारण और **स्रौवाः** = यजमान पुरोहित के सम्बन्ध के कारण ये चार प्रकार के सम्बन्ध माने हैं। इन सम्बन्धों में लेन-देन खरीददारी की तरह नहीं होता, अपितु श्रद्धा निष्ठा पर आधारित होता है।

और जो तथाकथित पण्डितों का यह कथन है कि मन्त्र के अशुद्ध उच्चारण से नारियों के मन, मस्तिष्क में गलत प्रभाव पड़ता है, अतः मन्त्र पढ़ने का उन्हें अधिकार नहीं है। वे भाई जन यह क्यों भूल गये कि अशुद्ध उच्चारण स्त्री को ही क्या, पुरुषों को भी प्रभावित करेगा, देवराज इन्द्र तक इस दोष से न बच सका। इन्द्र के पण्डितों ने मन्त्रोच्चार करते हुए स्वर की अशुद्धि की, जिससे इन्द्र के शत्रु की महत्ता द्योतित हुई[1] और उसकी बलहीनता सिद्ध हुई, अतः अशुद्धि के दोष से नर हो चाहे नारी दोनों को ही बचना चाहिए। और बड़ी श्रद्धा और निष्ठा के साथ स्त्री-पुरुष दोनों को यज्ञ जैसे उत्तम कर्म को करना-करवाना चाहिए, व अपने अधिकार के साथ यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए एवं वेद का पठन-पाठन करना चाहिए।



'शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः'

ऋ० १०।१८।२।।

(याज्ञिक जन अन्दर-बाहर से पवित्र होवें)

---

१. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनास्ति **यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्**।।
महा०नवा०व्याक० प्रयोजन

युवा वर्ग समाज के लिए समस्या क्यों बना ?

शब्द शास्त्र के प्रणेता पाणिनि महर्षि ने **''जीवति तु वंश्ये युवा''** पा० ४।१।१६३ सूत्र में चतुर्थ पीढ़ी के व्यक्ति की युवा संज्ञा की है अर्थात् सूत्र के अनुसार वंश में तीन पीढ़ियों में किसी भी व्यक्ति के जीवित रहने पर चौथी पीढ़ी का व्यक्ति युवा इस शब्द से अभिहित होता है। **''यु मिश्रणे-अमिश्रणे च''** धातु से **''कनिन् युवृषि''** उ० १।१५६ सूत्र द्वारा कनिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न युवा शब्द का अर्थ हुआ **''यौति मिश्रयति अमिश्रयति इति युवा** = जो मिश्रण-अमिश्रण का कार्य करता है वह युवा है। **''युवा प्रयौति कर्माणि''** निरु० ४।३।३८ अर्थात् जो कर्मों को मिलाता है, एक के बाद एक कार्यों की लड़ी जोड़ता जाता है, लगातार अनेक कार्य करता है, जो कार्यक्षमता से भरपूर है, वह यास्क महर्षि की दृष्टि में युवा है।

युवा शब्द के यौगिक अर्थों को देखकर प्रतीत होता है युवावस्था वह अवस्था है जिसका दूसरा पर्याय होना सर्वदा असम्भव है, कठिन है। जीवन की चार अवस्थाओं में युवावस्था अदम्य साहस, शौर्य-शक्ति से भरपूर होती है। इस अवस्था में मनुष्य जिस कार्य को करना चाहे उसे सहजता से परिपूर्ण कर लेता है, पृथिवी तक को इधर-उधर धर पटकने का साहस रखता है। इस अनमोल अवस्था का मनुष्य सर्वदा आकांक्षी है, इसके बिना जीवन नीरसता, कुण्ठा, ग्लानि से भरा रहता है। युवावस्था की इतनी महत्ता क्योंकर है, इसका परिज्ञान वेद करा रहा है—

अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा ।
हव्यवाड् जुह्वास्यः ।।

ऋ० १।१२।६ ।।

अर्थात् **अग्निः** = अग्रणी सबका नेता (**अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति,** निरु० ७।४।१४), **कविः** = क्रान्तदर्शी, मेधावी (**क्रान्तदर्शनो भवति,** निरु० १२।२।१२, **कविः मेधावी नाम,** निघ० ३।१५), **गृहपतिः** = स्थान तथा उसमें रहने वालों का पालन करने वाला (**गृहस्य**

स्थानस्य तत्स्थस्य वा पतिः पालन हेतुः, दया०भा०), **युवा** = पदार्थों को मिलाने वाला तथा उनको अलग करने वाला, **हव्यवाट्** = हवनीय देने योग्य वस्तुओं को प्राप्त करने वाला **(वह प्रापणे)**, **जुह्वास्यः** = ज्वाला के सदृश मुख वाला, **(जुहुः = ज्वाला, जुहुर्वै यज्ञमुखम्**, मै० ३।१।१), **अग्निना** = प्रकाश से, तेज से, **समिध्यते** = दीप्त होता है।

मन्त्र में युवा के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है कि सर्वप्रथम तो वह अग्रणी होता है, **कविः** अर्थात् साधारण बातों का उल्लंघन करके तत्व दर्शन प्राप्त करने वाला होता है, जहाँ पर वह रहता है उन सबका वह पालक होता है। **युवा** = पदार्थों को मिलाने और अपदार्थों को पृथक् करने की शक्ति होती है उसमें, यज्ञमय जीवन होता है, तेज से युक्त होता है, ऐसे गुणवान् व्यक्ति को ही वेद युवा बताता है।

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीरवीविपत्।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिः युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम्।।

ऋ० १।१५५।६ ॥

अर्थात् **चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिः** = चार के साथ ९० नामों की विशेषता से युक्त, **वृत्तं चक्रमिव** = गोल चक्र के **(इव इति पदपूरणः**, निरु० १।१०), **न** = समान, **व्यतीः** = विशेष बल वालों को **(वि + अत सातत्यगमने + इन्, व्यतिः = व्यतीः)**, **अवीविपत्** = कँपाता है **(टुवेपृ कम्पने)**, **बृहत्** = बड़ा, **शरीरः** = शरीर वाला, **विमिमानः** = विशेष रूप से निर्माण करता हुआ, **ऋक्वभिः** = प्रशंसाओं से **(ऋच स्तुतौ)**, **युवा** = यौवनावस्था को प्राप्त, कार्य कुशल, **अकुमारः** = २५ वर्ष की अवस्था से ऊपर **(पञ्चविंशति वर्षातीतः** दया०भा०), **आहवम्** = प्रतिष्ठा युक्त आह्वान को, **प्रति एति** = प्राप्त होता है।

तात्पर्य हुआ कि जिसका शरीर बली है, धातुओं की वृद्धि से युक्त है, कुमारावस्था को पार कर चुका है, ९४ संख्या वाले काल समुदाय[१] के घेरे को भी कँपा देने वाला है, ब्रह्मचर्य के बल से युक्त है, इन्द्रिय निग्रह करने

---

१. २७ नक्षत्र, १५ शुक्ल तिथियाँ, १५ कृष्ण तिथियाँ, १२ मास, १२ राशियाँ, ६ ऋतुएँ, ३ काल, २ अयन, १ दिन, १ रात से ९४ काल के घेरे हैं।

में समर्थ है ऐसा युवा स्तुतियों से प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, माने युवा वही है जिसका समाज में प्रतिष्ठित स्थान हो।

स नो युवेन्द्रो जोहूत्रः सखा शिवो नरामस्तु पाता।
यः शंसन्तं यः शशमानमूती पचन्तं च स्तुवन्तं च प्रणेषत्।।

ऋ० २।२०।३ ॥

अर्थात् **सः** = वह, **नः** = हमारा, **युवा** = सुख से जोड़ने वाला और दुःख से छुड़ाने वाला, **इन्द्रः** = ऐश्वर्यशाली **(इदि परमैश्वर्ये)**, **जोहूत्रः** = अतिशय स्पर्धा को प्राप्त तथा अत्यन्त यज्ञ करने वाला, अत्यन्त देने वाला **(ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, हु दानादनयोः)**, **सखा** = मित्र, **शिवः** = कल्याण करने वाला, **नरां पाता अस्तु** = मनुष्यों का रक्षक है। **यः** = जो, **शंसन्तं** = प्रशंसा करने वाले को, आदर करने वाले को **(शशमान इति अर्चति कर्मा,** निघ० ३।१४), **पचन्तं च** = तप, सहनशीलता आदि से अपने को पकाने वाले को, **स्तुवन्तं च** = स्तुति करने वाले को, **ऊती** = रक्षाओं से **(अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियैच्छा दीप्त्य-वाप्त्यालिङ्गनहिंसादान भाग वृद्धिषु) प्रणेषत्** = प्रकृष्ट न्याय को देवें।

यहाँ युवा का कर्त्तव्य बताते हुए कहा गया, जो सबका मित्र है, लोगों की रक्षा करता है, कल्याणकारी है, यज्ञ करता है तथा जो स्तुति करते हैं, अर्चन करते हैं एवं जिन्होंने अपने को तप द्वारा परिपक्व कर लिया है उनका पक्ष लेता है, अन्याय नहीं करता है वह युवा है।

निर्मथितः सुधित आ सधस्थे युवा कविरध्वरस्य प्रणेता।
जूर्यत्स्वग्निरजरो वनेष्वत्रा दधे अमृतं जातवेदाः।।

ऋ० ३।२३।१ ॥

अर्थात् **निर्मथितः** = अत्यन्त मथा हुआ, प्रदीप्त किया हुआ **(मन्थ विलोडने)**, **सुधितः** = भली प्रकार धारण किया हुआ, **आ सधस्थे** = सम्पूर्ण स्थानों में, **युवा** = सुख-दुःख, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म-अधर्म का ज्ञाता, **कविः** = क्रान्तदर्शी, **अध्वरस्य प्रणेता** = यज्ञ का प्रेरक, अहिंसा का उन्नायक **(अध्वर इति यज्ञ नाम,** निघ० ३।१७, **ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः,** निरु० १।७।१४, **ध्वरति वध कर्मा,** निघ० २।१९, **तत् प्रतिषेधः,** **जूर्यत्सु** = वेग युक्तों में **(जू वेगे)**, **अग्निः** = अग्नि, **अजरः वनेषु** = किरणों में प्रकाश युक्तों में, **अजर** नित्य अर्थात् शाश्वत प्रकाश वाला **(वनमिति रश्मि**

नाम, निघ० १।५), **अत्र** = इस संसार में, **जातवेदाः** = उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने वाला तथा परमात्मा को जानने वाला, **(जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः**, निरु० ७।५।१९), **अमृतं दधे** = अमरता को प्राप्त होता है।

वेद का मन्त्र उद्घोष कर रहा है कि जिसने अपने को प्रदीप्त कर लिया है, मेधावी बना लिया है, गति से भरपूर है, जातवेदस् है, जो परमात्मा के स्वरूप को भली-भाँति जानता है वह इस संसार में अमर हो जाता है, वही युवा कहलाने योग्य है।

अग्निर्होता न्यसीदद् यज्ञीयानुपस्थे मातुः सुरभा उ लोके।
युवा कविः पुरुनिःष्ठ ऋतावा धर्त्ता कृष्टीनामुत मध्य इद्धः ।।

ऋ० ५।१।६ ।।

अर्थात् **अग्निः** = अग्रगणी, **होता** = यज्ञ करने वाला, **यज्ञीयान्** = अत्यन्त यज्ञ करने वाला, **मातुः उपस्थे** = माता के समीप में, **सुरभौ उ लोके** = सुगन्धित स्थानों में, **न्यसीदत्** = बैठता है, **युवा** = पदार्थवेत्ता, **कविः** = विद्वान्, **पुरुनिःष्ठः** = बहुत स्थानों वाला, **ऋतावा** = सत्य का ज्ञाता, **(ऋतमिति सत्यनाम**, निघ० ३।१०, **ततो मत्वर्थे वनिप्)**, **धर्ता** = धारण कर्ता है, **उत** = और, **कृष्टीनाम्** = मनुष्यों के **(कृष्टयः मनुष्यनाम**, निघ० २।३), **मध्ये** = बीच, **इद्धः** = प्रदीप्त होता है।

यहाँ मन्त्र से स्पष्ट हुआ वे ही युवा मनुष्यों के बीच प्रदीप्त होते हैं, जो अग्निहोत्र करते हैं, माताओं के समीप रहते हैं, सुगन्धित स्वच्छ स्थानों में जाते हैं, सत्य को धारण करते हैं।

युवा स मारुतो गणस्त्वेषरथो अनेद्यः ।
शुभं यावाप्रतिष्कुतः ।।

ऋ० ५।६१।१३

अर्थात् **युवा** = युवा अवस्था को प्राप्त, **सः** = वह, **मारुतः गणः** = रूपवानों के समूह को, ऋत्विजों के समूह को **(मरुत इति रूपनाम**, निघ० ३।७, **मरुतः इति ऋत्विक् नाम**, निघ० ३।१८), **त्वेषरथः** = दीप्त रथ वाला, प्रकाशित वाहन वाला **(त्विष दीप्तौ)**, **अनेद्यः** = अनिन्दनीय **(णिदि कुत्सायां तत् प्रतिषेधः**, **अनेद्यः इति प्रशस्य नाम**, निघ० ३।८), **शुभंयावा** = शुभ को प्राप्त होने वाला, **अप्रतिष्कुतः** = दृढ़, कभी स्खलित न होने वाला। **भवति** = होता है।

अर्थात् जो प्रशंसनीय शुभकार्य करने वाला है, जिसके उपकारों का प्रतिकार न हो सके, मनुष्यों के समूह को दीप्त करता है, वह युवा है।

य आनयत् परावतः सुनीति तुर्वशं यदुम्।
इन्द्रः स नो युवा सखा ।।

ऋ० ६।४५।१, साम० १२७ ।।

अर्थात् **यः** = जो, **परावतः** = चारों ओर से, **सुनीतिः** = सुन्दर न्याय को, **तुर्वशम्** = शीघ्रता करने वाले **(तुर त्वरणे)**, **यदुम्** = मनुष्य को **(यदवः मनुष्यनाम**, निघ० २।३), **आनयत्** = लाता है, **सः इन्द्रः** = वह ऐश्वर्यशाली, **नः** = हमारा, **युवा सखा** = यौवनावस्था को प्राप्त मित्र होता है।

मन्त्र से स्पष्ट है, जो न्याय करता है, मनुष्यों को नीति से अपने वश में लाता है, ऐश्वर्यशाली होता है, वही हमारा युवा मित्र होने योग्य है।

आयमगन् युवा भिषक्पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ।।

अथर्व० १०।४।१५ ।।

अर्थात् **अयम्** = यह, **युवा** = युवा, **पृश्निहा** = स्पर्शशील सर्पादि का नाश करने वाला **(स्पृश संस्पर्शने + निः, हन हिंसागत्योः)**, **अपराजितः** = न हारा हुआ, **भिषक्** = वैद्य, **आ अगन्** = आया है, **सः** = वह, **वै** = निश्चय से, **उभयोः** = दोनों, **स्वजस्य** = लिपट जाने वाले सर्पादि का **(ष्वञ्ज परिष्वङ्गे)**, **च** = और, **वृश्चिकस्य** = बिच्छू के, **जम्भनः** = नाश करने वाला है **(जभि नाशने)**।

यौवनावस्था को प्राप्त व्यक्ति को चिकित्सा का भी ज्ञान होना चाहिए, यह मन्त्र बतला रहा है, जिससे कि सर्पादि विषैले जन्तुओं से अपनी तथा अन्यों की सुरक्षा कर सके।

ऊर्ध्वो रोहितो अधिनाके अस्थाद्विश्वा रूपाणि जनयन्युवा कविः ।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा विभाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ।।

अथर्व० १३।१।११ ।।

अर्थात् **युवा** = बलवान्, **कविः** = ज्ञानी, **रोहितः** = पदार्थों का निर्माण करने वाला, **विश्वा रूपाणि** = विविध प्रकार के पदार्थों को, **जनयन्** = उत्पन्न करता हुआ, बनाता हुआ, **अधिनाके** = सर्वोच्च सुख में, **ऊर्ध्वः** = ऊँचा

होकर, **अस्थात्** = ठहरता है, **अग्निः** = अग्रणी, **तिग्मेन ज्योतिषा** = तीव्र ज्योति के साथ, **विभाति** = दीप्त होता है, **तृतीये रजसि** = रजो गुण, तमो गुण से भिन्न सत्व लोक में, **प्रियाणि** = प्रिय वस्तुओं को, **चक्रे** = बनाता है।

तात्पर्य हुआ जो बुद्धिमान् युवा है वही विविध प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम होता है, और सुख के सर्वोच्च स्थान को प्राप्त करता है एवं उसके दिव्य ज्योति से युक्त होने से उसके सुख के साधन सर्वदा सात्विक होते हैं, ऐश-आराम वाले नहीं।

उपत्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम्।।

अथर्व० २०।१४।२, २०।६२।२ ॥

अर्थात् **कर्मन्** = कर्मों के बीच, **नः ऊतये** = हमारी रक्षा के लिए, **सः यः** = उस जिस, **धृषत् उग्रः** = प्रगल्भ, निर्भय, तेजस्वी, **युवा** = युवक ने, कर्तव्याकर्त्तव्य विवेकी ने, **चक्राम** = पैर बढ़ाया है, हे युवा! **इन्द्रः** = ऐश्वर्यशाली, **अवितारम्** = रक्षक, **सानसिम्** = दानी (**षणु दाने**), **त्वा** = तुझको, **इत् हि** = अवश्य ही, **त्वाम्** = तुझको, **सखायः** = तेरे मित्र, **उप** = समीप से, आदर से, **ववृमहे** = स्वीकार करते हैं, चुनते हैं।

अर्थात् जो युवा तेजस्वी होता है, रक्षा करता है, दानी होता है, उसे ही सभी अपना अगुवा चुनते हैं। मन्त्र कह रहा है युवा को सबकी रक्षा करने वाला, उदारता से देने वाला बनना चाहिए।

पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता वज्री पुरुष्टुतः।।

साम० ३५९ ॥

अर्थात् **पुरां भिन्दुः** = नगर तोड़ने वाला अर्थात् असुरवृत्तियों का भेदन करने वाला, **युवा** = मिश्रण, अमिश्रण की योग्यता रखने वाला, **कविः** = क्रान्तदर्शी, **अमितौजा** = अनन्त शक्ति वाला, **अजायत** = बन जाता है, **इन्द्रः** = ऐश्वर्यशाली, **विश्वस्य कर्मणः** = सभी कर्मों का, **धर्त्ता** = धारण करने वाला, **वज्री** = गतिशील (**वज गतौ**), **पुरुष्टुतः** = अत्यन्त स्तुत होने वाला होता है।

जो व्यक्ति युवा बन जाता है अर्थात् बुराई को अपने से दूर करता है, अच्छाई से जुड़ता है, शुभ से संयुक्त होता है, अशुभ से वियुक्त होता है वह

ही अपने अन्दर की असुर वृत्तियों को दूर करने में सक्षम होता है। जो इन्द्रियलोलुप नहीं होता, वासनाओं में नहीं फँसता, वह ही सबका प्रियपात्र बन जाता है, स्तुत्य हो जाता है।

बृहन्निदिध्मऽ एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः।
येषामिन्द्रो युवा सखा।।

यजु० ३३।२४॥

अर्थात् **येषाम्** = जिनका, **इन्द्रः** = ऐश्वर्यशाली, **युवा** = शुभ-अशुभ का परिज्ञाता, **सखा** = मित्र होता है, **एषाम्** = उनका, **इत्** = ही, **बृहत्** = महान्, **भूरि** = बहुत, **इध्म** = तेजस्वी, **पृथु** = विस्तृत, **स्वरूः** = उपतापित, उन्नत **(स्वृ शब्दोपतापयोः)**, **शस्तं** = शंसनीय कर्म होता है।

अर्थात् जिनका मित्र **युवा** = कर्त्तव्याकर्त्तव्य, शुभाशुभ विवेकी व्यक्ति होता है, उनके कार्य महान् होते हैं और प्रशंसा को प्राप्त होते हैं।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्रीधेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषाजिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।।

यजु० २२।२२॥

इस वेद मन्त्र की राष्ट्रीय प्रार्थना में योग और क्षेम को प्राप्त करने के लिए जहाँ राजन्, द्विज, क्षत्रिय, गौ, नारी आदि को साधक माना गया है वहीं बलवान् सभ्य युवाओं को भी मन्त्र में आहूत किया गया है कि वे योग, क्षेम की प्राप्ति में सहायक होंवे। युवा में वह तेज और बल है जिससे राष्ट्र का भाल शिखर पर रहता है।

इस प्रकार चारों वेदों में **युवा** = यौवनावस्था को प्राप्त व्यक्ति को किस प्रकार का होना चाहिए इसका बहुत उत्तमता से वर्णन किया गया है, क्योंकि वेद मानव जाति के संविधान हैं, आचार-विचार, रहन-सहन की शिक्षा के आधार हैं।

वेद की दृष्टि में युवा वह है जो सबका अग्रणी बनता है, अप्रतिहत बुद्धि के वैभव को रखता है, सबका रक्षक होता है, सायं प्रातः अग्निहोत्र करता है, परोपकारमय जीवन जीता है, अपने धन की शुद्धि दान द्वारा करता है, तेज से युक्त होता है, जिसका शरीर ब्रह्मचर्य बल से परिपुष्ट होता है, न्याय का पक्ष

लेता है, सत्य पर आरूढ़ रहता है, उसका आहार दुग्ध, फल, अन्न होता है। वह परमात्मा के स्वरूप को भली प्रकार जानता है, उसकी उपासना दोनों काल करता है, माताओं की समीपता से दूर नहीं होता, स्वच्छ स्थानों में रहता है, चिकित्सा के गूढ़ तत्वों का ज्ञान रखता है, बुराई और अच्छाई का, शुभ और अशुभ का, धर्म और अधर्म का, सत्य और असत्य का सत्यता से, दृढ़ता से, निर्भीकता से बोध कर लेता है, आसुरी वृत्तियों को छोड़कर सात्विक वृत्तियों को अपनाता है तथा दूसरों को भी सात्विकता का दामन पकड़ाता है, वह युवा है।

वेद के इन गुणों को धारण करके ही मेरे युवा भाइयों ने सर्वदा से राष्ट्र को गुरुपद पर प्रतिष्ठित किया है, अपने शीश तक को राष्ट्र की वेदि पर अर्पित किया है, आवश्यकता पड़ने पर आजादी के लिए अपने प्राणों को भी न्यौछावर किया है जिसे राष्ट्र कभी नहीं भूल सकता।

पर आज का युवा वर्ग वेदोक्त अपने धर्मों को भूल चुका है, उसके उपदेशों से उसका दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है, आज वह किसी का अग्रणी बनने में सकुचाता है, सामर्थ्यहीनता का अनुभव करता है, बुद्धि वैभव उससे बहुत परे है। चोरी, डकैती, नकल, घूस द्वारा ही मनचाहे क्षेत्र में अपना अस्तित्व बनाता है। आज का युवक रक्षक न होकर भक्षक है। किसी की भी जान लेने, हत्या करने, चोरी करने, इज्जत लूटने आदि में उसे कोई संकोच नहीं है। यज्ञमय जीवन न होकर वह मात्र मन्दिरों में दर-दर भटकता है, बेशकीमती आकर्षक वेशभूषा वाला, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर आदि डिग्रियों से विभूषित युवा फटेहाल पुजारियों से आशीर्वाद लेने में, चरणामृत पाने में अपना मत्था टेकता-फिरता है या नास्तिक बना घूम रहा है, उसका मुख तेज से भरा नहीं अपितु उस पर वासनाओं का साम्राज्य है। शरीर की परिपुष्टता के लिए अण्डे-माँस खा रहा है, सिगरेट उसकी आन-शान है, नशे की बोतलों में धुत्त है, उसमें ही शान्ति और सुख को ढूँढ़ता है, आलस्य के कवच में सुरक्षित निराशा के बादलों को छाँटता रहता है, ततः आत्महत्या कर गुजरता है। न्याय को छोड़ अन्याय का पक्षधर बना हुआ है, जगन्नियन्ता परमेश्वर की प्राप्ति उसके लिए छाया की भाँति अग्राह्य है, वेद के दर्शन दुर्लभ हैं। माता-पिता की समीपता में वह चैन नहीं समझता, उनकी सेवा करने, आज्ञा पालन करने में अपनी हेठी समझता है, यदि सप्तपदी के पग नाप चुका है तो मात्र अपनी पत्नी, अपने बच्चों में ही सुख का अनुभव करता है। माता-पिता के निश्छल, निर्भय स्नेह की पूर्ति के लिए क्लबों में, गीत सन्ध्याओं में समय बिताता है,

दूरदर्शन को आत्मिक आनन्द का साधन मान बैठा है। रोगों की भरमार होने से अस्पतालों में दस्तक दे रहा है। आसुरी वृत्तियों ने उसे इस प्रकार घेर लिया है कि उसे धर्म-अधर्म का विवेक नहीं है, वह माता और बहिन की दृष्टि रखने में असमर्थ हो चुका है, दुराचार का दम्भ लिए हुए स्वच्छन्द बना हुआ है, उसकी इन्द्रियलोलुपता ने बहन, बेटियों की इज्जत चौराहे पर पटक दी है, वासना की पूर्ति ट्रेन आदि के शौचालयों में अश्लील चित्रों एवं शब्दों को रंग कर करता है, उसके निर्मल नेत्र कामुकता बरसाते हैं, एक सम्बन्ध को छोड़ नित नये सम्बन्ध करता-करवाता है और अपने प्रेम सम्बन्धों की अस्मिता के लिए एक युवा दूसरे युवा का अस्तित्व तक मिटा देता है। सुखद नींद गोलियों से लेता है। राष्ट्र भक्ति तोड़-फोड़, आगजनी, आन्दोलन आदि से जताता है, राष्ट्र किस गर्त में जायेगा इसका कोई उत्तरदायित्व नहीं। उसकी धनलोलुपता राष्ट्र को दाँव पर भी लगा देती है, आदि.....।

वर्तमान काल के युवा की इन परिस्थितियों को देखकर माता-पिता, आचार्य, गुरुजन, राष्ट्रहितैषी, समाज सुधारक झिझके-झिझके दुबके-दुबके बस यही कहकर सन्तुष्ट हो लेते हैं आज का युग ही ऐसा है, आज की सभ्यता ऐसी है। किसी के कहने में अपने आपको रखना उनको अच्छा नहीं लगता। जबकि वेद कहता है **'उपस्थे मातुः सुरभा उ लोके''** ऋ० ५।१।६, अर्थात् माता के समीप तथा सुन्दर स्थानों में जो रहता है वही युवा दीप्त होता है, बढ़ता है। आज पूरा संसार युवाओं की स्थिति से दुःखी है और युवा सम्मेलन, युवा संगोष्ठी आदि करके युवा वर्ग की इन गतिविधियों से युवा वर्ग को उठाना चाहता है।

पर यह उठाना इतना सरल नहीं, जितना हम समझते हैं। यह तभी सम्भव है जब युवा वर्ग वेदों की शरण में आयेगा, उसे वेदों की शिक्षा से अनुप्राणित किया जायेगा। सर्वव्यापक सच्चे ईश्वर का सच्चा भक्त बनाया जायेगा। जिस क्षण युवा वर्ग अपने युवा नाम के महत्त्व को समझ लेगा कि **मैं युवा तभी हूँ जब शुभ-अशुभ का विवेचन कर लूँगा। तभी मैं युवा कहलाने के योग्य हूँ, जब यह निश्चित जान लूँगा कि मौज, मस्ती, ऐश, आराम, सैर-सपाटा युवा शब्द के पर्याय नहीं है**। युवा राष्ट्र का, समाज का, परिवार का मुकुट है, पगड़ी है। युवा की मस्ती, ईश्वर भक्ति में है, राष्ट्रभक्ति में है, उसी क्षण युवा वर्ग समाज के लिए समस्या न होकर समाधान होगा और समाज का सुदृढ़ स्तम्भ बनेगा।



मनुष्य की गौणिक संज्ञा 'आर्य'

सृष्टि के समस्त जड़-चेतन जगत् की रुढ़ि और गौणिक दो प्रकार की संज्ञायें देखी जाती हैं, यथा—**छोटे-छोटे जन्तुओं की** कीट-पतङ्ग यह उनकी **गौणिक संज्ञा** है, और उनका जो तत्-तत् नाम है सूड़ी, पाई, झींगुर, तितली, मक्खी, मच्छर आदि ये उनकी **रूढ़ि संज्ञायें** हैं। **चौपायों में** पशु-जानवर यह उनकी **गौणिक संज्ञा** है, गाय, घोड़ा, भैंस, हाथी आदि ये उनकी **रूढ़ि संज्ञायें** हैं। **स्थावरों में** पत्थरों के ढेर की पहाड़ यह **गौणिक संज्ञा** है, केदारनाथ, बद्रीनाथ, शिवालिक, हिमालय आदि **रूढ़ि संज्ञायें** हैं। **औषधि, वनस्पतियों की** वृक्ष, पेड़, लता **गौणिक संज्ञायें** हैं, गिलोय, आम, कटहल, नीम आदि **रूढ़ि संज्ञायें** हैं। घास यह छोटे-छोटे पौधों की **गौणिक संज्ञा** है, मोथा, नागरमोथा, दूब आदि **रूढ़ि संज्ञायें** हैं। तथैव मनुष्य नाम के प्राणी की भी आर्य, मनुष्य, धार्मिक आदि एवं अनार्य, दस्यु आदि **गौणिक संज्ञायें** हैं, और ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र, देवराज, देवदत्त आदि **रूढ़ि संज्ञायें** हैं। मनुष्य के अन्दर दो प्रकार के गुण हुए, प्रशंसनीय एवम् अप्रशंसनीय। अप्रशंसनीय गुण के कारण दस्यु **(दसु उपक्षये)**, अनार्य आदि संज्ञायें होंगी, प्रशंसनीय गुण के कारण आर्य, धार्मिक आदि संज्ञायें होंगी, **तात्पर्य हुआ आर्य नाम मनुष्य का गुण के कारण है, जाति विशेष के कारण नहीं।**

न्याय दर्शन में जाति का लक्षण करते हुए कहा—

"समानप्रसवात्मिका जातिः" ।। न्याय० २।२।७१ ।।

अर्थात् जिनकी उत्पत्ति एक हो, समान हो, वे एक जाति वाले कहे जाते हैं। कहने का अभिप्राय हुआ विश्वभर के जितने भी मानव हैं, उनकी उत्पत्ति, उत्पादन एक जैसा है अतः वे सभी एक जाति वाले हुए। पशु, गाय आदि की उत्पत्ति एक होने से, वे भी एक जाति वाले हुए। इस प्रकार जाति का विभाग उत्पत्ति परक हुआ, गुण के आधार पर नहीं।

सृष्टि के आरम्भ काल में मनुष्य जब उत्पन्न होता है उस समय वह आर्यत्व के गुणों से भरपूर होता है, अतः परमात्मा ने वेद में कहा—

अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥

ऋ० ४।२६।२॥

अर्थात् **अहम्** = मैं परमेश्वर, **भूमिम्** = भूमि को, **अददाम** = देता हूँ, **आर्याय** = श्रेष्ठगुण वाले आर्यों के लिए। **अहम्** = मैंने ही, **दाशुषे मर्त्याय** = दानशील मनुष्य के लिए, **वृष्टिम्** = वृष्टि को, **अददाम** = दिया है, **अहम्** = मैंने, **अपः** = प्राणों को, कर्मों को, (**अपः इति कर्म नाम** निघ० २।१, **प्राणा वा आपः**, तै०ब्रा० ३।२।५), **अनयम्** = प्राप्त कराया है, उस, **मम** = मुझको, **वावशानाः** = चाहते हुए, **देवासः** = विद्वान् लोग (**विद्वांसो हि देवाः**, शत०ब्रा० ३।७।३।१०), **केतम्** = ज्ञान के लिए, बुद्धि के लिए (**केतः इति प्रज्ञा नाम**, निघ० ३।९), **अनुआयन्** = मेरे पास आवें।

मन्त्र का भावार्थ हुआ कि परमेश्वर ने श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न **आर्य = मनुष्य के लिए** भूमि दी है, उसने ही मनुष्य के लिए वृष्टि का जल दिया है, तथा वह परमात्मा ही प्राणों को देने वाला है और वह ही बुद्धि और ज्ञान के लिए प्राप्तव्य है, उपास्य है।

इस मन्त्र की गहराई पर उतरकर देखते हैं तो ज्ञात होता है कि परमात्मा ने यह घोषणा की है कि आदि सृष्टि का मानव आर्य होता है और वह ही मुझ परमात्मा तक पहुँचा हुआ होता है, लेकिन जब समय बीतते-बीतते मनुष्य आर्यत्व के गुणों से च्युत हो जाता है और भौतिकता में फँसता है, सृष्टि के चाकचक्य को अपना प्राप्तव्य समझता है, तब वह आर्य ही दस्यु, अनार्य आदि दुर्गुण स्थानापन्न संज्ञाओं को धारण कर लेता है, तथाहि वेदे—

वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकीभव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥

ऋ० १।५१।८॥

अर्थात् हे मनुष्य! **बर्हिष्मते** = उत्तम सुखादि गुणों के उत्पन्न करने वाले को, (**बर्हिः परिबर्हणात्**, निरु० ८।२।९), **आर्यान्** = श्रेष्ठ गुण वाला, **विजानीहि** = जान, और, **ये** = जो, **अव्रतान्** = सत्य भाषणादि रहित को, **दस्यवः** = दुष्ट, उपेक्षित जानना, तथा उनको, **शासत्** = शासन करते हुए, शिक्षा देते हुए, **रन्धय** = मारकर दूर कर, **यजमानस्य** = यज्ञ के कर्त्ता का,

चोदिता = प्रेरक, और, **शाकी** = सामर्थ्य को, **भव** = सिद्ध कर, मैं, **ते** = तेरे, **सधमादेषु** = उत्तम स्थानों में, **ता** = उन, **विश्वा** = सब कर्मों को, **इत्** = ही, **चाकन** = चाहता हूँ **(चक तृप्तौ)** ।

मन्त्र का तात्पर्य हुआ मनुष्य बर्हिष्मान् अर्थात् बढ़ाने वाले उन्नत गुणों को धारण करने से आर्य इस संज्ञा को प्राप्त कर लेता है, और बढ़ाने के गुणों को भी वही धारण कर सकता है, जो सत्य भाषणादि गुणों से परिपूर्ण होता है। जो सत्य भाषणादि कर्त्तव्यों को धारण नहीं करता, वह दस्यु अर्थात् आर्य का प्रतिलोम अनार्य बन जाता है। मन्त्र के अनुसार आर्य और दस्यु दोनों संज्ञायें गुणों और अवगुणों को धारण करने से होती हैं, और वह आर्य यज्ञ का कर्त्ता होता हुआ यजमान इस पदवी को भी ग्रहण करता है, एवं परमात्मा भी यही चाहता है कि मनुष्य श्रेष्ठ गुणों का अनुगामी बने।

मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टाः, मनोरपत्यम्' मनुषो वा (निरु० ३।२।७) सोच विचार कर कार्य करते हैं, मनस्वी परमात्मा तथा माता-पिता के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, मनु तथा मनुष्य के अपत्य हैं अतः मनुष्यों का मनुष्य यह गौणिक नाम होता है, तथैव आर्य नाम भी उनकी गौणिक संज्ञा है। **'अभिगमनीयः प्रापणीयः यः स आर्यः'** अर्थात् जो सबका प्राप्तव्य है, विद्या पारङ्गत है, श्रेष्ठ है, वह आर्य है। निरुक्तकार ने **'आर्यः ईश्वरपुत्रः'** (निरु० ६।५।२६), ईश्वर के पुत्र को आर्य कहा है। अर्य परमेश्वर को कहते हैं **(अर्यः इति ईश्वर नाम,** निघ० २।२२, **'ऋ गतौ'** धातु से **'अर्यः स्वामिवैश्ययोः'** पा० ३।१।१०३ से यत् द्वारा **अर्य शब्द** बना), क्योंकि गति के ज्ञान, गमन, प्राप्ति तीन अर्थ हैं, तदनु ईश्वर ज्ञानवान् है, सर्वत्र पहुँचा हुआ है, गया हुआ है तथा प्राप्तव्य है, अतः परमात्मा अर्य हुआ, उसके पुत्र मनुष्य आर्य हुए। उस अर्य के पुत्र मनुष्य **आर्य = गति** शील, श्रेष्ठ कैसे बनते हैं, इसे वेद ने बताया है—

ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन् पृथिवीं पर्वताँ अपः ।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि ।।

ऋ० १०।६५।११ ॥

अर्थात् **ब्रह्म** = परमात्मा को, वेद को, अन्न को, **(ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः,** कौषी० ८।५, **ब्रह्म इति अन्ननाम,** निघ० २।७), **गाम्** = गौ को, **अश्वम्**

= अश्व को, **ओषधीः** = ओषधियों को, **वनस्पतीन्** = वनस्पतियों को, **पृथिवीम्** = पृथिवी को, **पर्वतान्** = मेघों को (**पर्वत इति मेघनाम,** निघ० १।१०), **अपः** = जलों को, **जनयन्तः** = उत्पन्न करते हुए, **सुदानवः** = भली प्रकार देने वाले, **दिवि** = द्यौलोक में, **सूर्यम्** = सूर्य को, **रोहयन्तः** = चढ़ाते हुए, इन, **व्रता** = श्रेष्ठ कर्मों का, (**व्रतमिति कर्मनाम,** निघ० २।१), **विसृजन्तः** = आचरण करते हुए, **अधिक्षमि** = पृथिवी पर, **आर्या** = आर्य कहलाते हैं।

मन्त्रानुसार जो सत्य स्वरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, गौ, अश्व आदि पशुओं का पालन करते हैं, ओषधि = वनस्पतियों को उत्पन्न करते हैं, भूमि को परिष्कृत करते हैं, मेघों को और जलों को यज्ञ में आहुतियाँ देकर उत्पन्न करते हैं, सूर्य को आहुति द्वारा ही फैलने देते हैं अर्थात् सूर्य की प्रखरता से पूर्व आहुतियाँ डाल चुके होते हैं, ऐसे जन ही वेदोक्त व्रतों को, कर्मों को करते हुए पृथिवी पर आर्य इस नाम से विभूषित होते हैं।

यजुर्वेद में मनुष्य का व्रत क्या है, इसका संकेत करते हुए बताया—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।।

यजु० १।५ ।।

अर्थात् **व्रतपते अग्ने** = हे व्रतों के पालक व्रतपति अग्नि ! **व्रतं चरिष्यामि** = व्रत का आचरण करुँगा, **तत् शकेयम्** = उसको करने में, मैं समर्थ होऊँ, **तत् मे राध्यताम्** = उस सामर्थ्य को मुझमें भर दो, सिद्ध कर दो, यह मैं, **अनृतात्** = अनृत को छोड़कर, **सत्यमुपैमि** = सत्य को प्राप्त हो रहा हूँ।

कहने का अभिप्राय हुआ मनुष्य का पहला व्रत, कर्म सत्याचरण हुआ, सत्याचरण उसका अनुष्ठान है क्योंकि **'सत्येनोत्तभिता भूमिःसूर्येणोत्तभिता द्यौः'** ऋ० १०।८५।१, अर्थात् सत्य स्वरूप परमात्मा के द्वारा ही पृथिवी और द्यौलोक की प्रतिष्ठा है अतः पृथिवीस्थ प्राणियों को भी सत्य को अवश्यमेव अपनाना चाहिए, जिससे कि व्रती बनकर आर्य अभिधान को प्राप्त कर सकें।

आर्य की परिभाषा करते हुए संस्कृतज्ञों ने कहा—

शान्तः तितिक्षुर्दान्तिश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दाता दयालुर्नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः ।।

जो शान्त, दान्त, वशी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दानी दयालु तथा नम्र होता है वह आर्य है।

इस प्रकार सत्यादि गुणों से विभूषित पृथिवी के किसी भी कोने का मानव आर्य है। जब मनुष्य अपने आर्यत्व धर्म को छोड़कर अनार्य, अनाड़ीपने के कार्यों को करने में प्रवृत्त हो जाता है, उसके लिए वेद ने आदेश किया—

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।
अपघ्नन्तो अराव्णः ।।

ऋ० ९।६३।५ ॥

अर्थात् **इन्द्रम्** = ऐश्वर्य को, शूरता को, **वर्धन्तः** = बढ़ाते हुए, **अप्तुरः** = गतिशील करते हुए, **विश्वम्** = सम्पूर्ण जगत् को, **आर्यं कृण्वन्तः** = श्रेष्ठ बनाना चाहिये, **अपघ्नन्तः** = नष्ट करते हुए, **अराव्णः** = शत्रुओं को।

तात्पर्य हुआ श्रेष्ठ जनों को मनुष्य के दोष रूपी शत्रुओं को हटाकर गतिशील और ऐश्वर्यशाली बनाकर, उसे श्रेष्ठ गुणों से विभूषित करना चाहिए, आर्य बनाना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञात हुआ **'ऋ गतौ'** धातु से निष्पन्न **'गुणवाचक आर्य शब्द'** उस गुण विशिष्ट व्यक्ति का वाचक होगा, जो श्रेष्ठ आचरण वाला है, चाहे वह किसी भी आकृति वाला हो, किसी भी रंग का हो, लम्बा हो, नाटा हो, किसी भी देश में रहने वाला हो। आर्य नाम में देह निर्माण या देश विशेष कारण नहीं है। और वे आर्य कहीं बाहर से नहीं आये अपितु यहीं उनकी जन्मभूमि है, यहीं उनका निवास है।

आर्यावर्त्त—

मानव सृष्टि सर्वप्रथम हिमालय स्थित तिब्बत में हुई, क्योंकि मनुष्य के आहार-विहार के लिए पशुओं की अपेक्षा सर्व सुविधा सम्पन्न उच्च स्थान की आवश्यकता होती है। उस प्रकार का उच्च स्थान हिमालय पर्वत स्थित तिब्बत नामक भूभाग ही था, जिसे संस्कृत कोषों में **'त्रिविष्टप'** नाम से जाना जाता है, वहीं से मनुष्य ने अपना विस्तार किया, अतः सम्पूर्ण देश का नाम आर्यावर्त्त पड़ा। अपने देश का नाम आर्यावर्त्त रहा है, इसे हमारे संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ भली प्रकार बताते हैं। मनुस्मृति में आर्यावर्त्त की भौगोलिक सीमा क्या थी, इसका चित्र खींचते हुए कहा—

आ समुद्रात् तु वै पूर्वात् आसमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ।।

मनु० २।२२ ।।

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्त्त[1] प्रचक्षते ।।

मनु० २।१७ ।।

अर्थात् पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक और हिमालय से विन्ध्याचल के बीच में जो देश है, तथा सरस्वती अर्थात् अटक नदी, दृषद्वती अर्थात् ब्रह्मपुत्र इन देव नदियों के मध्य में जो देश है उसे देवताओं = विद्वानों ने बनाया है, और आर्यजनों के निवास करने से इसे आर्यावर्त्त कहते हैं।

इसी प्रकार महावैय्याकरण पतञ्जलि महर्षि ने पाणिनि मुनि के **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'** पा० ६।३।१०८, सूत्र का भाष्य करते हुए आर्यावर्त्त की सीमा बताई—

कः पुनः आर्यावर्त्तः ? प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालकवनात् दक्षिणेन हिमवन्तम् उत्तरेण पारियात्रम् एतस्मिन् आर्यावर्त्ते आर्यनिवासे...... ।

अर्थात् आदर्श पर्वत से पूर्व, कालक = प्रयाग से पश्चिम, हिमालय से दक्षिण, पारियात्र से उत्तर आर्यावर्त्त कहलाता है, उस आर्यावर्त्त के लोग शिष्ट हैं।

मनुस्मृति तथा महाभाष्य के इस भौगोलिक चित्रण को देखने से स्पष्ट होता है कि आर्यावर्त्त की सीमा सम्पूर्ण देश है, इसका साक्षी हमारा इतिहास है—

अर्जुन का विवाह **पाताल = अमेरिका** निवासी राजा की पुत्री उलोपी के साथ हुआ था। धृतराष्ट्र का विवाह **गान्धार = कन्धार** की राजपुत्री से हुआ। पाण्डु की पत्नी माद्री **ईरान के** राजा की कन्या थी।

यहाँ महत्वपूर्ण बात यह ध्यातव्य है कि मनु महाराज के पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र पद से बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर अभिप्रेत नहीं है, अपितु चीन सागर और भूमध्य सागर (लाल सागर) कहे गये हैं, अपने आर्यावर्त्त देश की पूर्वी सीमा चीन सागर है (थी), जिसके अन्तर्गत ब्रह्मदेश = बर्मा,

१. महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में **'आर्यावर्त्तम्'** लिखा है मनुस्मृति में **'ब्रह्मावर्त्तम्'** है।

रंगून आदि थे। भारत की पश्चिम सीमा लाल सागर है (थी), जिसके अन्तर्गत पाकिस्तान, बिलोचिस्तान, ईरान, अरब आदि देश थे। भूगोल के नक्शे में विन्ध्याचल और हिमालय के मध्य भाग से पूर्व और पश्चिम की ओर सीधी लाइन ले जायें तो उपर्युक्त दोनों चीन सागर एवं लाल सागर ही सीमाओं में पहले आयेंगे और बंगाल की खाड़ी एवं अरब सागर इस लाइन से दक्षिण भाग में रहेंगे। आर्यावर्त्त की इस विशाल सीमा अवधि को जान लेने पर अपने आप समाधान हो जाता है कि आर्य लोग बाहर से नहीं आये थे, अपितु यहीं के निवासी थे।

आर्यावर्त्त नाम से पूर्व अपने देश का कोई नाम नहीं था। प्रथम नाम आर्यावर्त्त ही था—**'आर्याणाम् आवर्तः, निवासः यत्र स आर्यावर्त्तः ।'** और भरत का राज्य होने पर **भारत** नाम पड़ा।

जगत् गुरु महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में देश का नाम तथा उसके निवासी कौन थे, इसे बताते हुए लिखते हैं—

इससे पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था, और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे क्योंकि आर्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे। सत्यार्थ० अष्टम समु०।

आर्य लोग ईरान आदि देशों से आये और कोल, मङ्गोल, द्रविड़ आदि को भगाकर बसे आदि कथन विदेशी कूटनीति का भ्रम जाल है। उन पाश्चात्य संभ्यता से ओत-प्रोत स्कालरों की बात दुर्जन-सन्तोष न्याय से मान भी ली जाय, तो आर्यों को अपने निवास की स्मृति अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक विजेता अपने मूल निवास को बताता है। विजय प्रकरणों में उसका उल्लेख होता है, यह इतिहास से भली-भाँति सिद्ध है। पारसी आदि जो भारत में आ करके बसे हैं, उन्हें हजार वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर भी अपने मूल निवास की स्मृति है।

दूसरी बात रामायण, म्हाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों में कहीं भी आर्य लोग बाहर से आये, इसकी अंश रूप में भी चर्चा नहीं है। तथा जैसे—

राम की लङ्का विजय का वर्णन रामायण में, पाण्डवों की विजय का वर्णन महाभारत में है, तद्वत् आर्य विजय का वर्णन इन ग्रन्थों में कहीं पर

भी उपलब्ध नहीं होता, अपितु इन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि **सत्यता आदि गुणों से युक्त मानव को आर्य और आर्या बोलने की परम्परा रही है।** राम के वनवास चले जाने पर भरत उनसे जब मिलने जाते हैं तब भरत राम को **आर्य**[१] शब्द से सम्बोधित करते हैं, और राम माता कैकेयी का कुशल मंगल पूछने पर उनका **आर्या**[२] विशेषण लगाकर पूछते हैं। भरत के वन में प्रवेश करने पर उसकी सेना को देख लक्ष्मण राम को **आर्य**[३] सम्बोधित करते हैं। रावण के द्वारा अपहृत हुई सीता जटायु को **आर्य**[४] कहती है। मारीच जब मृग का रूप धारण कर वन में घूमता है, सीता जी उसे पकड़ने के लिए राम को **आर्यपुत्र**[५] शब्द से अभिहित करती हैं। तारा अपने पति बालि के मारे जाने पर **आर्य**[६] कहकर रुदन करती है। इससे स्पष्ट है कि न आर्य बाहर से आये, न उन्होंने यहाँ के पूर्व निवासी द्रविड़ों को खदेड़ा।

विदेशी शासकों की सोची समझी यह चाल थी, जिसके कारण उन्होंने अपने लेखकों से इस प्रकार का लिखवा मारा कि आर्य लोग बाहर से आये, आर्य माँस भक्षक, हिंसक थे। और हमें एक नया नाम दिया **'इण्डियन' जिसका अर्थ है अमेरिकी आदिवासी**[७]। यह सब हमारे इतिहास, हमारे गौरव, हमारी संस्कृति आदि को नष्ट करने के उद्देश्य से किया गया है।

दुःख तो इस बात का है कि हमारे देश के देशवासी भी अपने मस्तिष्क में यही पाले हुए हैं कि हमारे पूर्वज बाहर से आये हैं और अपने शुभ्र सांस्कृतिक

---

१. दुःखाभितप्तो भरतो, राजपुत्रो महाबलः।
उक्त्वार्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किञ्चन॥ अयो० ९९।३८॥

२. तात कच्चिच्च कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकेयी॥ अयो० १००।१०॥

३. अग्निं संशमयत्वार्यः सीतां च भजतां गुहाम्।
सज्जं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा॥ अयो० ९६।१४॥

४. जटायो पश्य मामार्य ह्रियमाणामनाथवत्।
अनेन राक्षसेन्द्रेण करुणं पापकर्मणा॥ अरण्य० ४९।३८॥

५. आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति॥ अरण्य० ४३।१०॥

६. सुप्तेव पुनरुत्थाय आर्यपुत्रेति वादिनी।
रुरोद सा पतिं दृष्ट्वा संवीतं मृत्युदामभिः॥ किष्कि० १९।२७॥

७. अंग्रेजी हिन्दी कोष, फादर कामिल बुल्के, पृष्ठ ३२०॥

इतिहास से विमुख हो रहे हैं, पाश्चात्य भोंणी सभ्यता के शिकार बने हुए हैं। वेदों को पढ़ने से हमारी सभी कल्पनायें, आस्थायें निर्मूल हो जाती हैं, कि **आर्य आक्रामक जाति विशिष्ट नहीं हैं, न वे बाहर से आये हैं।**

वेदों में विभिन्न विभक्तियों में लगभग ५४ बार **'आर्य'** शब्द आया है, जो मनुष्य जाति के महिमामय गौरव पर प्रकाश डालता है। हम जगत् गुरु महर्षि दयानन्द के सर्वदा ऋणी रहेंगे, जिन्होंने परतन्त्र भारत के समय सर्वप्रथम **आर्य तथा आर्यावर्त्त** इन दोनों नामों के प्रति देशवासियों में आस्था जगाई और वेदों से प्रमाण उद्धृत कर **श्रेष्ठ गुणों से युक्त मनुष्य "आर्य" इस संज्ञा का अभिधायक होता है** इसकी दुन्दुभि बजाई, तथा वह आर्य बाहर से नहीं आया अपितु उसकी यही जन्म-भूमि रही है, है एवं रहेगी, यह इतिहास से सिद्ध किया साथ ही बताया उनके रहने वाले देश का नाम **आर्यावर्त्त है,** अपने इस कथन को ऋषिवर ने मनुस्मृति के वचनों से सुपुष्ट कर किया।

महाकवि जयशङ्कर प्रसाद ने अपने देश के प्रति बहुत ही सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं—

किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यही।
हमारी जन्मभूमि थी यही, कहीं से हम आये थे नहीं।
वही है शक्ति, वही है रक्त, वही है साहस, है वैसा ज्ञान।
वही है देश, वही है शान्ति, वही हम दिव्य आर्य सन्तान।
जियें तो सदा इसी के लिए, यह अभिमान रहे, यह हर्ष।
न्यौछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारत वर्ष।।

— महाकवि जयशंकर प्रसाद



मौलिक रचनायें

१. वेदबिन्दु :–
    अन्तरिक्ष वसिष्ठ ब्रह्म आदि विज्ञान
२. कल्याण सुख आनन्द के स्रोत
३. वेदादि सिद्धान्त-शंका समाधान
४. त्रिपदी गौः

मुद्रक : रत्ना ऑफसेट्स लिमिटेड, कमच्छा, वाराणसी । फोन : ३१२८२०